विवेक·ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
वर्ष : २६ अंक २
रामकृष्ण मिशन

विवेक-ज्योति
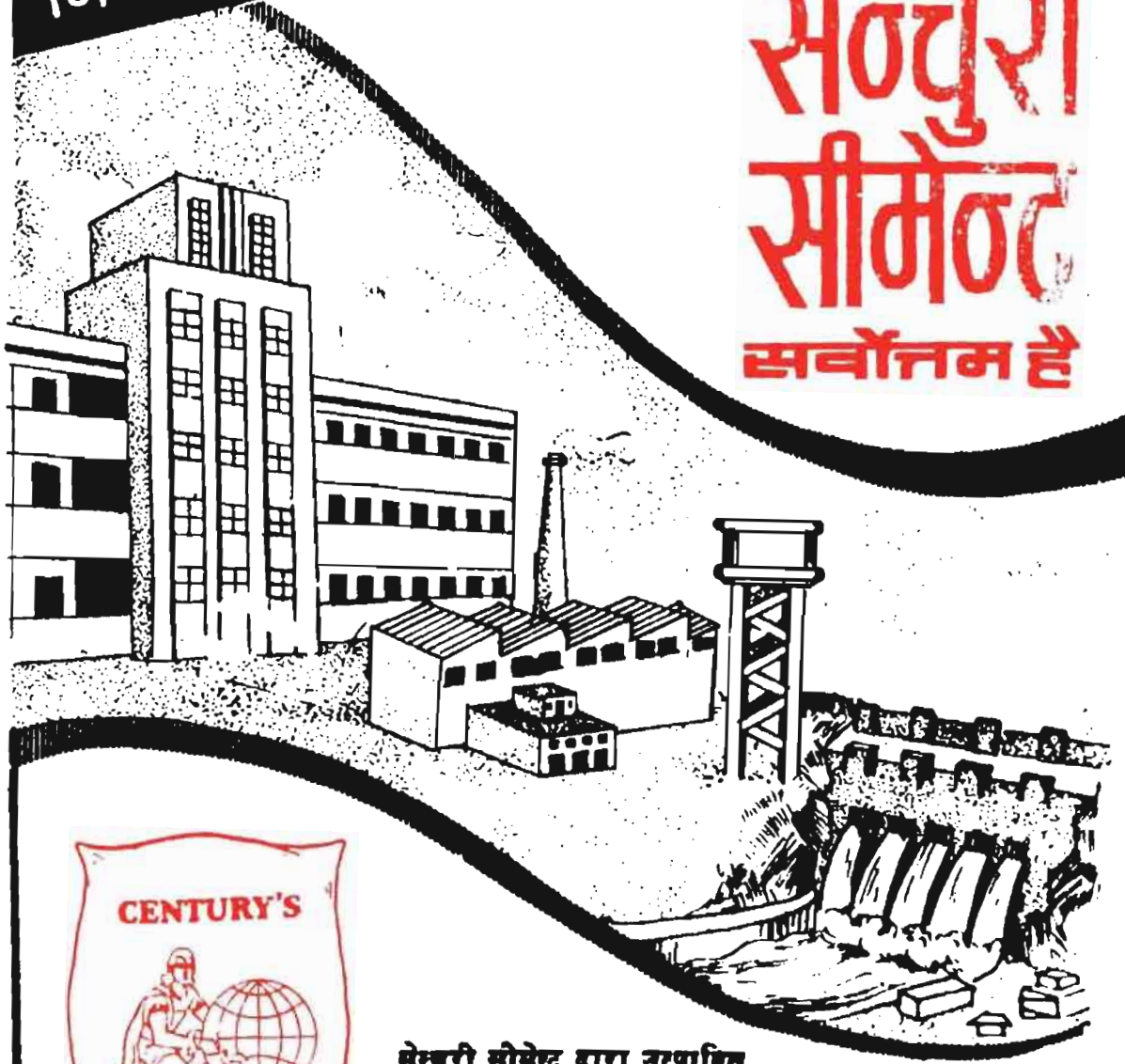
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित,

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-मई-जून

*** १९८८ ***

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

८१वीं तालिका

(३१ जनवरी १९८८ तक)

२८५९. श्री के. जी. वेल्हाल, सदाशिव पेठ, पुणे।
२८६०. श्री एन. बी. वल्लभदास, संगमनगर, इन्दौर।
२८६१. श्री सुधीन्द्र मोहन शर्मा, संगमनगर, इन्दौर।
२८६२. पुस्तकालय एवं वाचनालय, गायत्री शक्ति पीठ, भिलाई।
२८६३. श्री भागवतप्रसाद वर्मा, मिडवानी, डोरी, नरसिंहपुर।
२८६४. श्री पुरुषोत्तमदास वल्लभ काबरा, हरदा।
२८६५. श्री रामऔतार सिंघल, जनपद-रामपुर (उ.प्र)।
२८६६. श्री के. जी. भलमे, छत्रपति नगर, नागपुर।
२८६७. श्री सुन्दरलाल निराला, जशपुर, रायगढ।
२८६८. डॉ. शर्मा, आयुर्वेदिक डॉक्टर, जशपुरनगर, रायगढ़।
२८६९. श्री सियाराम देवांगन, सिमगा (रायपुर)।
२८७०. श्री रामजीभाई बी. पटेल, खोडपरा, जेतपुर (गुजरात)।
२८७१. श्री सी. एम. मलिक, वसन्त विहार, नई दिल्ली।
२८७२. श्री रामकिशुन मौर्य, मस्तूरी, बिलासपुर।
२८७३. श्री बी. पी. विश्वकर्मा, सुन्दरनगर, रायपुर।
२८७४. प्राचार्य, शासकीय विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर।
२८७५. कु. अलका गोडबोले, नन्दानगर, इन्दौर।
२८७६. श्री रघुनाथसिंह सेंगर, नन्दानगर, इन्दौर।
२८७७. श्री देवीप्रसाद यादव, रुस्तम का बगीचा, इन्दौर।
२८७८. श्री हेमचन्द्र प. वावले, हरसिद्धि, मेनरोड, इन्दौर।
२८७९. पंडित कैलाश मिश्रा, स्नेहलतागंज, इन्दौर।
२८८०. सौ. नलिनी द. चौधरी, इन्दौर।
२८८१. श्री तुकाराम सि. आमणापुरकर, उषानगर, इन्दौर।
२८८२. सौ. शकुन्तला सिकरवार, नेहरूनगर, इन्दौर।
२८८३. श्री रामप्रसाद राने, रानीपुरा, मेनरोड, इन्दौर।
२८८४. श्री सुभाष वासुदेव, वुड वर्क, लखीमपुर (आसाम)।
२८८५. श्रीमती सुदर्शन नन्दा, नई दिल्ली।
२८८६. श्री आप्पा गंगाराम होंकले, चन्द्रपुर।
२८८७. कु. अनुज झा, खैरागढ़, राजनांदगांव।

२८८८. श्रीमती प्रतिभा देशपांडे, वसंतनगर, नागपुर ।
२८८९. श्री एल. आर. राजहंस, शास्त्रीनगर, भोपाल ।
२८९०. श्रीमती नलिनी महाशब्दे, नार्थ टी.टी. नगर, भोपाल ।
२८९१. श्री सी. ए. बोरोले, सेक्टर १, भिलाई नगर ।
२८९२. श्री राजेश रामायणी, पचोखरा, जालौन (उ.प्र.) ।
२८९३. श्री टीकाराम वर्मा, कौड़िया (रायपुर) ।
२८९४. श्री हीरालाल चन्द्राकर, टाटीबंद, रायपुर ।

O

अनुक्रमणिका

○

आवरण चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २६] अप्रैल-मई-जून ★ १९८८ ★ [अंक २

धीर का स्वभाव

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा
न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं
न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ।।

—अमूल्य रत्नों को पाकर भी न तो देवगण सन्तुष्ट ही हुए और न हलाहल विष को देख उन्होंने डरकर समुद्र का मथना ही बन्द किया, प्रत्युत जब तक अमृत न निकला, तब तक विश्राम तक न किया । इससे यह सिद्ध होता है कि धीर पुरुष निर्दिष्ट कार्य को पूरा किये बिना कभी दम नहीं लेते ।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ८२

अग्नि-मंत्र

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

१७१९, टर्क स्ट्रीट,
सैन फ्रान्सिस्को,
१ अप्रैल, १९००

प्रिय धीरा माता,

आपका स्नेपूर्ण पत्र आज सुबह मुझे प्राप्त हुआ। न्यूयार्क के सभी मित्र श्रीमती मिल्टन की चिकित्सा से आरोग्य-लाभ कर रहे हैं, यह जानकर मुझे अत्यन्त खुशी हुई। ऐसा मालूम होता है कि लॉस एंजिलिस में उन्हें नितान्त विफल होना पड़ा था, क्योंकि हमने जिन व्यक्तियों को उनसे परिचित कराया था, उन सभी लोगों ने मुझसे कहा कि मर्दन की चिकित्सा में उनकी दशा पहले से भी खराब हो गयी। श्रीमती मिल्टन से मेरा स्नेह कहना। कम से कम उनकी 'मसाज' उस समय मुझे कुछ लाभ पहुँचाती थी। बेचारा डाक्टर हीलर! हम लोगों ने उसे तत्क्षण ही उसकी पत्नी के इलाज के लिए लॉस एंजिलिस भेजा था। यदि उस दिन सुबह उसके साथ आपकी भेंट तथा बातचीत हुई होती, तो बहुत ही अच्छा होता। मर्दन-चिकित्सा के बाद ऐसा मालूम होता है कि श्रीमती हीलर की दशा पहले से भी अधिक खराब हो गयी है—उसके शरीर में केवल हाड़ ही हाड़ रह गये हैं, और डाक्टर हीलर को लॉस एंजिलिस में ५०० डालर व्यय करना पड़ा है। इससे उनका मन बहुत खराब हो गया है। किन्तु मैं 'जो' को ये सारी बातें लिखना नहीं चाहता हूं। उसके द्वारा गरीब रोगियों की इतनी सहायता हो रही

है, इसी कल्पना में वह मस्त है। किन्तु ओह! यदि वह कदाचित् लॉस एंजिलिस के लोगों तथा उस वृद्ध डाक्टर हीलर के अभिमत सुनती, तो उसे उस पुरानी बात का मर्म विदित होता कि किसी के लिए दवा बतलाना उचित नहीं है। यहाँ से डाक्टर हीलर को लॉस एंजिलिस भेजनेवालों में मैं नहीं था, मुझे इसकी खुशी है। 'जो' ने मुझे लिखा है कि उसके समीप से रोग के इलाज का समाचार पाते ही डाक्टर हीलर अत्यन्त आग्रह के साथ लॉस एंजिलिस जाने के लिए तैयार हो उठे थे। वह वृद्ध महोदय मेरी कोठरी में जिस प्रकार कूदते डोल रहे थे, वह दृश्य भी 'जो' को देखना चाहिए था! ५०० डालर खर्च करना उस वृद्ध के लिए अधिक था! वे जर्मन हैं। वे कूदते रहे तथा अपनी जेब में थप्पड़ जमाते हुए यह कहते रहे—'यदि इस प्रकार के इलाज की बेवकूफी में मैं न फँसता, तो ५०० डालर आपको भी तो प्राप्त हो सकते थे।' इनके अलावा और भी गरीब रोगी हैं, जिनको मर्दन के लिए कभी-कभी प्रति व्यक्ति ३ डालर खर्च करना पड़ा है और अभी तक 'जो' मेरी तारीफ ही कर रही है। 'जो' से आप ये बातें न कहें। वह और आप किसी भी व्यक्ति के लिए यथेष्ट अर्थ-व्यय कर सकती हैं, आप लोग इतनी सम्पन्न हैं। जर्मन डाक्टर के बारे में भी ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु सीधे-साधे बेचारे गरीबों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था नितान्त ही कठिन है। वृद्ध डाक्टर की अब ऐसी धारणा हो गयी है कि कुछ भूत-प्रेत आपस में मिलकर उनके घर को इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं! उन्होंने मुझे अतिथि बनाकर

इसका प्रतिकार तथा अपनी पत्नी को स्वस्थ करना चाहा था, किन्तु उन्हें लॉस एंजिलिस दौड़ना पड़ा; और उसके फलस्वरूप सब कुछ उलट-फेर हो गया! और अभी तक यद्यपि वे मुझे अतिथिरूप से पाने के लिए विशेष सचेष्ट हैं, किन्तु मैं किनारा काट रहा हूँ--यद्यपि उनसे नहीं, किन्तु उनकी पत्नी तथा माली से। उनकी निश्चित धारणा है कि ये सब भूतों के काण्ड हैं। थियोसाफ़ी के वे एक सदस्य रह चुके हैं। कुमारी मैक्लिआड को लिखकर कहीं से कोई भूत झाड़नेवाले गुणी को बुलाने की मैंने उन्हें सलाह दी थी, जिससे कि वे अपनी पत्नी के साथ झटपट वहाँ पहुँचकर पुनः ५०० डालर व्यय कर सकें!

दूसरों का भला करना सर्वदा निर्विवाद विषय नहीं है।

मैं अपने बारे में यह कह सकता हूँ कि 'जो' जब तक खर्च करती रहेगी, तब तक मजा लूटने को मैं तैयार हूँ--चाहे वे हड्डी चटकानेवाले हों अथवा मर्दन करनेवाले। किन्तु मर्दन-चिकित्सा के लिए लोगों को एकत्र कर इस प्रकार भाग जाना तथा सारी प्रशंसा का बोझ मेरे कन्धों पर डालना--ऐसा आचरण 'जो' के लिए उचित नहीं था। वह और कहीं से किसी को मर्दन-प्रक्रिया के लिए नहीं बुला रही है--इससे मैं खुश हूँ। अन्यथा 'जो' को पेरिस भागना पड़ता और श्रीमती लेगेट को सारी प्रशंसाओं को बटोरने का भार अपने ऊपर लेना पड़ता। मैंने केवल दोष ढँकने के लिए डाक्टर हीलर के समीप एक ईसाई चिकित्सक को, जो वैज्ञानिक तरीकों से (अर्थात् मानसिक शक्ति की सहायता

द्वारा) रोग दूर करते हैं, भेज दिया था; किन्तु उनकी पत्नी ने उस चिकित्सक को देखते ही किवाड़ बन्द कर लिये एवं यह स्पष्ट कह दिया कि इन अद्भुत चिकित्साओं के साथ वे किसी प्रकार का सम्पर्क रखना नहीं चाहतीं। अस्तु, मैं विश्वास करता हूँ तथा सर्वान्तःकरण से प्रार्थना करता हूँ कि इस बार श्रीमती लेगेट स्वस्थ हो उठें।

मैं आशा करता हूँ कि वसीयतनामा भी शीघ्र पहुँच जायगा; इसके लिए मैं थोड़ा-सा चिन्तित हूँ। भारत से इस डाक के द्वारा वसीयतनामे की एक प्रति मिलने की भी मुझे आशा थी; कोई पत्र नहीं आया है, यहाँ तक कि 'प्रवुद्ध भारत' भी नहीं, यद्यपि मैं देखता हूँ कि 'प्रबुद्ध भारत' सैन फ्रांसिस्को पहुँच चुका है।

उस दिन समाचार-पत्र से यह विदित हुआ कि कलकत्ते में एक सप्ताह के अन्दर ५०० व्यक्ति प्लेग से मर चुके हैं। माँ ही जानती हैं कि कैसे मंगल होगा।

मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है श्री लेगेट ने वेदान्त-समिति को चालू कर दिया है। बहुत अच्छी बात है।

ओलिया किस प्रकार है? निवेदिता कहाँ है। उस दिन मैंने '२१ वाँ मकान, पश्चिम ३४'——इस पते पर उसे एक पत्र लिखा था। यह देखकर कि वह कार्य में अग्रसर हो रही है, मैं अत्यन्त आनन्दित हूँ। मेरा आन्तरिक स्नेह ग्रहण करें।

आपकी चिरसन्तान,
विवेकानन्द

पुनश्च——मेरे लिए जितना करना सम्भव है, उतना अथवा उससे अधिक कार्य मुझे मिल रहा है। जैसे भी

हो, मैं अपना मार्ग-व्यय अवश्य एकत्र करूँगा। ये लोग यद्यपि मेरी अधिक सहायता करने में असमर्थ हैं, फिर भी मुझे कुछ न कुछ देते रहते हैं; तथा मैं भी निरन्तर परिश्रम कर जिस तरह भी होगा अपना मार्ग-व्यय एकत्र कर सकूँगा और उसके अतिरिक्त कुछ सौ रुपये भी प्राप्त करूँगा। अतः मेरे खर्च के लिए आप कुछ भी चिन्ता न करें।

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

बीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के वरिष्ठ महा-उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में, और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्-बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में मास्टर महाशय ने दक्षिणेश्वर का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा है। चित्र की विशिष्टता यह है कि महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त होने से निसर्ग के जड़-सौन्दर्य में मानो एक दिव्य चेतना संचरित हो गयी है। पूतसलिला दक्षिणवाहिनी गंगा का वर्णन करते हुए मास्टर महाशय कहते हैं—खर-स्रोता गगा मानो सागर में पहुँचने के लिए कितनी व्यग्र हो उठी है। तात्पर्य यह है कि इस महापुरुष के सान्निध्य में जो लोग आते हैं, वे भी अपने गन्तव्य-स्थल को जाने के लिए, अर्थात् अपने इष्ट के साथ मिलने के लिए मानो उसी तरह व्यग्र हो उठते हैं।

ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या पर विचार

उसके बाद मणि मल्लिक की बात उठी। वे काशी में एक साधु देखकर आये हैं। साधु ने कहा है, "इन्द्रिय-संयम न होने से कुछ भी होने का नहीं। केवल ईश्वर-

ईश्वर करने से क्या होगा ?" ठाकुर कह रहे हैं, "इनका मत क्या है जानते हो? पहले साधना चाहिए, शम-दम, तितिक्षा चाहिए। ये लोग निर्वाण की चेष्टा करते हैं। ये लोग वेदान्तवादी हैं, केवल विचार करते हैं, 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या'––बड़ा कठिन रास्ता है ।" इसके तुरत बाद ठाकुर दर्शन की एक सूक्ष्म बात कहने लगते हैं, "जगत् के मिथ्या होने से तुम भी मिथ्या हुए; जो कहते हैं, वे भी मिथ्या हुए, उनकी बात भी स्वप्न-वत् हुई । बड़ी दूर की बात है।" इस बात पर अनेक शास्त्रों ने चर्चा की है । ज्ञानी कहते हैं, 'जगत् मिथ्या' । लेकिन 'जगत् मिथ्या' का बोध इस अवस्था में नहीं होता, जिसमें हम रहते हैं। जब तक हमारा 'मैं'-बोध रहता है, हममें 'मैं' की अनुभूति रहती है, तब तक जगत् को मिथ्या, स्वप्नवत् कहकर उड़ा देने से काम नहीं चलेगा। इधर जगत् की सभी वस्तुओं की आवश्यकता है, लोक-व्यवहार भी जैसा सर्वसाधारण करते हैं, वैसा ही मैं भी कर रहा हूँ, और उधर मुँह से कहता हूँ, 'जगत् मिथ्या है, स्वप्नवत् है', इससे वचन और कर्म में कोई मेल नहीं बैठता। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं कि यदि जगत् मिथ्या है, तो जो वह बात कहता है वह भी मिथ्या है और उसकी बात भी मिथ्या है।

इस 'मिथ्यात्व के मिथ्यात्व' को लेकर वेदान्त में बड़ी चर्चा की गयी है––अत्यन्त सूक्ष्म चर्चा । यहाँ उसकी चर्चा करने की आवश्यकता हमें नहीं है । सूक्ष्मता से शास्त्र-चर्चा जनसाधारण के लिए सहजबोध्य नहीं होती। फिर भी हम ठाकुर के कथन का मर्म समझने की चेष्टा करेंगे। ठाकुर कह रहे हैं कि जो 'जगत्

मिथ्या' कहता है, वह क्या जगत् के अन्तर्गत नहीं है? यदि वह जगत् के अन्तर्गत है, तो वह भी मिथ्या है। और यदि वह मिथ्या है, तो उसकी सब बातें भी मिथ्या हैं। अतः उसका यह कहना कि 'जगत् मिथ्या है' यह बात भी मिथ्या हुई। लेकिन 'जगत् मिथ्या' यह बात तो मिथ्या नहीं है। अतः 'जगत् मिथ्या' यह बात उस प्रकार से नहीं कही जा सकती। तथापि वेदान्त जो 'जगत् मिथ्या' कहता है, उसका कारण यह है कि एक उच्चतर भूमि पर आरूढ़ होकर निम्न भूमि को मिथ्या कहा जाता है। जब तक मैं रज्जु में सर्प देखता हूँ, रस्सी को सर्प समझता हूँ, तब तक सचमुच के सर्प को देखने से जो अनुभव होता है, ठीक वैसा ही अनुभव होता है। साँप को देखकर जैसा भय होता है, तब वैसा ही भय होता है। अतः इस अवस्था में साँप मिथ्या नहीं होता। साँप यदि मिथ्या होता तो भय नहीं होता। मिथ्या साँप को देखने से डर नहीं लगता। साँप का चित्र देखकर भय नहीं होता। लेकिन यहाँ पर तो खासा भय हो रहा है। देखते ही डर के मारे भागता हूँ, हृदय धड़कने लगता है। अतः इस अवस्था में साँप नितान्त सत्य है। इस सत्य को हम मिथ्या कहकर झुठला नहीं सकते। पर जब हमें रज्जु का ज्ञान होता है, जब हम रस्सी को जान लेते हैं, तब हम कहते हैं कि वह साँप नहीं, रस्सी है। इसलिए जब तक रस्सी का ज्ञान नहीं होगा, तब तक यह सर्प मिथ्या नहीं है। यह विशेष रूप से जानने योग्य बात है। अर्थात् **ब्रह्म को न जान लेने तक जगत् मिथ्या नहीं होता।**

जब तक इस संसार में हम रहते हैं, व्यवहार

करते हैं, समस्त इन्द्रियों के द्वारा उसे ग्रहण करते हैं,—तथा साधारण लोगों के ही समान आग्रहपूर्वक ग्रहण करते हैं,—तब तक इस जगत् को मिथ्या कहना एक प्रवंचना मात्र है। ऐसा कहने पर वचन और कर्म में बिलकुल मेल नहीं बैठता। इस जगत् को हम तभी मिथ्या कह सकते हैं, जब उसके प्रति रंचमात्र भी आकर्षण न रहे। एक स्थान पर कुछ चमक रहा है। यदि हम यह जानें कि भले ही वह चाँदी के समान चमक रहा है, पर वह चाँदी नहीं, सीप है, तब हम उस चाँदी के पीछे नहीं दौड़ेंगे, उसे पाने की चेष्टा नहीं करेंगे। लेकिन जब उसे चाँदी समझते हैं और उसे उठा लेने के लिए दौड़ पड़ते हैं, तब उस समय 'चाँदी नहीं है, सीप है' यह कहने का कोई तुक नहीं है।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि संसार केवल व्यवहार-काल में रहता है, जैसे रस्सी में सर्प। रस्सी में भ्रमवश जिस सर्प को देख रहा हूँ, वह मेरे लिए सत्य है—अर्थात् जिम अवस्था में मैं द्रष्टा हूँ, उस अवस्था में सर्प मेरे लिए सत्य है। लेकिन वह सर्प निरपेक्ष सत्य नहीं है, अर्थात् मेरे स्थान पर और कोई व्यक्ति उसे यदि भिन्न रूप में देखे, या मैं स्वयं दीपक के प्रकाश में उसे रस्सी के रूप में देखूँ तो वह सर्प सत्य नहीं रह जाता। अर्थात् अवस्था के परिवर्तित होने पर उसकी सत्यता का लोप हो जाता है। तभी उसे मिथ्या कहा जाता है, उसके पहले नहीं। जब तक हमें ब्रह्मानुभूति नहीं हो जाती, तब तक यह जगत् हमारे लिए सत्य ही प्रतीत होगा। इस सत्य को हम 'व्यावहारिक सत्य' कहकर पुकारते हैं। 'व्यावहारिक सत्य' का अर्थ होता है—

व्यवहार-काल में सत्य। जब तक हम इस व्यवहार के राज्य में हैं, इस द्वैत के राज्य में हैं, या यों कहें कि जब तक हमारा 'मैं' बना हुआ है, तब तक जगत् है। अतः उस अवस्था में 'जगत् मिथ्या' कहने का अधिकार हमें नहीं है। यदि मैं अपने अहं को कभी नकार सका, यदि कभी अपनी व्यावहारिक सत्ता को लाँघकर पारमार्थिक सत्ता में पहुँच सका, केवल तभी यह जगत् मेरे लिए मिथ्या होगा, इससे पहले नहीं।

जगत् को स्वीकार करके ही शास्त्र का विधि-निषेध है

जब तक हम परमार्थ-सत्य (Absolute Truth) का, उस सर्व-अवस्था-निरपेक्ष सत्य का अनुभव नहीं करते, तब तक इस जगत् को सत्य मानना ही होगा। और इस प्रकार का मानना अनिवार्य होने के कारण ही हम कहते हैं कि परमार्थ सत्य पर पहुँचने के लिए हमें साधना की आवश्यकता है। यदि जगत् मिथ्या हो, द्वैतबुद्धि मिथ्या हो, तो उसे दूर करने के लिए इतनी साधना की आवश्यकता क्योंकर होनी चाहिए? जब हम जगत् को मिथ्या ही कहते हैं, तब तो किसी साधना की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि साधना भी मिथ्या है। यह बात शास्त्रकार विशेष जोर देकर कहते हैं कि जगत् यदि मिथ्या है, मैं यदि न होऊँ, तो श्रवण-मनन-निदिध्यासन का उपदेश किसके लिए है? लेकिन शास्त्रों का कहना है कि इस आत्मतत्त्व को जानना होगा और जानने के लिए सुनना होगा, ध्यान करना होगा। यह जो 'करना होगा' कहा जा रहा है, वह किसके लिए कहा जा रहा है ? कौन करेगा ? यदि ब्रह्म को छोड़कर कोई दूसरी वस्तु न हो तो फिर उपदेश किसके लिए

है? कौन फिर उपदेश दे और किसके लिए दे? अतः इस प्रकार इस जगत् को कभी नकारा नहीं जा सकता। जगत् की सत्यता को मानने पर ही शास्त्र का विधि-निषेध संगत होता है, और तभी यह कहने की सार्थकता होती है कि मैं यह करूँगा, यह नहीं करूँगा, यह अच्छा है, यह बुरा है, आदि। गीता कहती है—'हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते' (१८/१७)—जगत् के समस्त प्राणियों की हत्या करके भी न तो वह हत्या करनेवाला बनता है, न ही हत्या करने के परिणाम से आबद्ध होता है, क्योंकि उसके लिए कोई कर्म नहीं है। कारण यह है कि उसने पारमार्थिक सत्य को जान लिया है, स्वयं को शुद्ध निष्क्रिय आत्मा के रूप में अनुभव कर लिया है। यह जो कहा गया, इसका यह मतलब नहीं कि हम उसकी आड़ में मनमानी करें। ऐसा करने से तो सारे नीति-धर्म आदि व्यर्थ हो जाएँगे, उनका कोई प्रयोजन, कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि जब तक 'तुम' हो, तुम्हारा व्यक्ति-बोध बना हुआ है, तब तक यह सब सत्य है। तुम्हारे लिए बन्धन सत्य होने के कारण तुम्हें इस 'सत्य-बन्धन' से मुक्ति पाने के लिए साधना की आवश्यकता है, क्योंकि शास्त्र तुम्हें इस बन्धन से मुक्ति पाने का उपाय बतला दे रहा है। यदि तुम जीवन्मुक्त हो, तब तो तुम्हें इस सबकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। वेदान्त कहता है, 'अत्र...वेदा अवेदाः' (बृहदारण्यक उपनिषद्, ४/३/२२)—अर्थात् उस जीवन्मुक्ति की अवस्था में वेद अवेद हो जाता है, यानी अज्ञान के अन्तर्भुक्त हो जाता है, क्योंकि तब वेद की

शिक्षा का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। तब वेद किसके लिए रहेगा? उसे कौन पढ़ेगा? किसके प्रति कहा जाएगा? जब एक ही आत्मा है, जब कोई अन्य तत्त्व है ही नहीं, तब कोई व्यवहार भी नहीं, शास्त्र भी नहीं।

अध्यास-भाष्य और माण्डूक्यकारिका

इसीलिए आचार्य शंकर कहते हैं, 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य. . .नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' (ब्रह्मसूत्र, अध्यास-भाष्य)—इस जगत् के समस्त व्यवहार—लौकिक और वैदिक दोनों—सत्य और मिथ्या का मिश्रण हैं—'लौकिका वैदिकाश्च. . .सर्वाणि च शास्त्राणि विधि-प्रतिषेधमोक्षपराणि' (अध्यास-भाष्य)। अर्थात् याग-यज्ञादि जो कुछ वैदिक व्यवहार हैं, खाना-पहनना, चलना-फिरना आदि जो कुछ लौकिक व्यवहार हैं तथा विधि-निषेधात्मक जितने शास्त्र आदि हैं, वे समस्त सत्य और मिथ्या के मिश्रण हैं। 'सत्य' वह है जो अपरिवर्तनशील है और 'मिथ्या' वह है जो उस सत्य के साथ जुड़ी हुई परिवर्तनशील परिणामी वस्तु है। इन दोनों को एक अर्थात् अभिन्न मानते हुए, उनके पार्थक्य को भुलाकर, हम समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार करते रहते हैं।

उस परमार्थ सत्य को, अपरिवर्तनशील तत्त्व को लक्ष्य करके कहा गया है—'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' (माण्डूक्यकारिका, २/३२)—परमार्थ सत्य यह है कि निरोध अर्थात् प्रलय नहीं है, उत्पत्ति अर्थात् जन्म नहीं है, बद्ध अर्थात् संसारी जीव नहीं है,

साधक नहीं है. मुक्तिकामी नहीं है, मुक्त कहकर भी कोई नहीं है। इस परमार्थ सत्य को व्यवहार-भूमि पर खींच लाना भ्रान्तिकर है । उससे अनेक प्रकार का भ्रम उपजता है। इस बात को हमें जान रखना होगा। ठाकुर के जीवन की एक घटना है । दक्षिणेश्वर की पंचवटी में एक वेदान्ती रहता था । लोग उसके बारे में तरह-तरह की बातें करते । वह सब सुनकर क्षुब्ध हो ठाकुर उससे बोले, "तुम तो वेदान्ती हो जी, फिर तुम्हारे बारे में यह सब क्या सुनाई दे रहा है?" साधु ने कहा, "महाराज, वेदान्त कहता है कि यह जगत् तीनों काल में मिथ्या है। अत: मेरे सम्बन्ध में आप जो सुन रहे हैं, वह भी मिथ्या है।" यह सुन ठाकुर ने बिगड़कर जो कहा था, वह तो आपने पढ़ा ही होगा। इधर निषिद्ध कर्म भी चल रहा है और उधर मुँह से वेदान्त की लम्बी लम्बी बातें भी चल रही हैं—ठाकुर इसकी कटु निन्दा करते थे; क्योंकि इस तरह का वेदान्त मनुष्य को किसी कल्याणकारी पथ पर नहीं ले जाएगा; यही नहीं, उसका सर्वनाश भी ला देगा, क्योंकि उसका 'मैं ब्रह्म हूँ' कहना, 'मैं' को समस्त बन्धनों से परे कहना, उसका निरंकुश व्यवहार उसे अधोगामी बना देता है ।

तत्-त्वं-पदार्थविचार

इसलिए वेदान्त के 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' वाक्यों का तात्पर्य समझना होगा। तभी तो शास्त्रों में 'तत्-त्वं-पदार्थविचार' की बात है। 'तत् पदार्थ' माने वह जगत्कारण ब्रह्म और 'त्वं पदार्थ' माने तुम यानी जीव। यह जो 'तत्' और 'त्वं' है, वे और तुम हैं, इस

सम्बन्ध में विचार करना होगा, विचार करते-करते इन सबका शोधन करना होगा। अर्थात् जिस दृष्टि से हम इन सबको समझते हैं, उससे देखने से काम नहीं चलेगा। इसके पीछे और भी तत्त्व हैं, उन सबका विचार करके इन दोनों शब्दों का अर्थ ठीक करना होगा। 'त्वं' या तुम माने यह देह-इन्द्रियादि-अभिमानी जीव, जिसका अमुक समय जन्म हुआ है, जो इस समय युवा या प्रौढ़ या वृद्ध है, जो कुछ दिन बाद मर जाएगा। ऐसा व्यक्ति कभी ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्म पूरी तरह विपरीत-धर्मी है। इस प्रकार जो जन्म-मृत्यु-जराग्रस्त है, वह कभी भी अपरिणामी कूटस्थ ब्रह्म नहीं हो सकता। अतः शास्त्र जब कहते हैं, 'तत् त्वं असि' (वह तुम हो) तब समझना होगा कि 'तुम' शब्द का प्रकृत अर्थ क्या है। 'तुम' शब्द का वास्तविक अर्थ होता है वह अपरिणामी सत्ता जो देहेन्द्रियादिविशिष्ट कहलानेवाले जीव के परिवर्तनशील अंशों को छोड़ देने पर बच रहती है। और 'वह' कहने का अर्थ हम साधारणतया उस सत्ता से लेते हैं, जो जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय कर्त्ता है। सृष्टि-स्थिति-लयकर्ता का कर्तृत्व सृष्टि-स्थिति-लयरूप कर्म के ऊपर निर्भर करता है। ऐसा न होने से उसका कर्तृत्व किस प्रकार प्रकट होगा? लेकिन जो कर्तृत्व-विशिष्ट होता है, समझ लेना कि वह परिणामी होगा; कर्ता होते ही वह परिणामी कहलाएगा। अतः जब 'तत्' या 'वह' कहते हैं, तब उसका अर्थ ईश्वर भी नहीं है। इसके पीछे, इसकी पृष्ठभूमि में कोई एक अपरिणामी सत्ता है, जो कुछ भी नहीं करती, जो सृष्टि-स्थिति-लय कुछ भी नहीं करती, उसी को 'तत्'

या 'वह' कहकर सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार 'तत्' पद एवं 'त्वं' पद, 'वह' और 'तुम' इन दोनों पदों का विश्लेषण कर इनके पीछे जो एक अद्वितीय अपरिवर्तनशील अपरिणामी सत्ता है, हम उस तक पहुँचते हैं। वहाँ पर भेद का कारण खोजने पर भी कुछ नहीं मिलता। एक से दूसरे को पृथक् करने लायक कोई धर्म या गुण वहाँ नहीं मिलता। इसलिए इन दोनों को एक कहा गया है, दो भिन्न-भिन्न नहीं हैं ऐसा कहा गया है।

श्रीरामकृष्ण की शिक्षा : व्यवहार के क्षेत्र में द्वैतभाव

यह जो अभेदज्ञान की बात कही गयी, वह कभी भी इस व्यावहारिक क्षेत्र में सम्भव नहीं है, यह बात शास्त्र बार-बार विश्लेषण करके दिखा देते हैं, समझा देते हैं। व्यावहारिक क्षेत्र में इस अभेदतत्त्व को मानने से वेदान्त का गलत व्यवहार होता है, जिसकी ठाकुर ने निन्दा की है। जो वेदान्त का गलत व्यवहार करता है, उसे 'हठ वेदान्ती' कहा जाता है। वह 'जबरन वेदान्ती' है। शास्त्र मनुष्य को सावधान कर देते हैं कि तुम इस प्रकार के 'हठ वेदान्ती' न बनो। ठाकुर कह रहे हैं कि इस अभेद की अपेक्षा पार्थक्य का रहना अच्छा है, वे और मैं भिन्न हैं, मैं दास हूँ, वे प्रभु हैं, मैं उनकी सन्तान हूँ, वे मेरे माता-पिता हैं, बुद्धि में ऐसा पार्थक्य रखकर मनुष्य आगे बढ़ सकता है।

शास्त्र का असल तात्पर्य

शास्त्र जब अभेदज्ञान का उपदेश करते हैं, तब व्यावहारिक दृष्टि से जो भेद है उसे अस्वीकार नहीं करते। जैसाकि एक दृष्टान्त दिया जाता है—सोने का

जो कुछ भी है, वह सभी सोना है। जैसे सोने का लोटा, सोने की कटोरी, सोने का हाथी—ये सभी सोना हैं। लेकिन सोने का लोटा और सोने का हाथी दोनों कभी एक नहीं हैं। सब कुछ पंचभूतों के मेल से बना है—रेत भी बनी है, तिल भी बना है। लेकिन जब हम तेल निकालने की चेष्टा करते हैं, तब रेत को पीसकर तेल नहीं निकालते, तिल को ही पीसकर तेल निकालते हैं। यदि सभी ब्रह्म है, तब तो रेत भी ब्रह्म है और तिल भी ब्रह्म है अर्थात् जो रेत है वही तिल है। अतः रेत को पीसने पर तेल निकलना चाहिए, पर यह कभी होता नहीं। व्यवहार में जो पार्थक्य है, उसे बनाकर रखना ही होगा। हम व्यवहार को कभी भी इस प्रकार नकार नहीं सकते। जो यह कहते हैं कि सभी ब्रह्म है, भोजन के समय उनमें से किसी की पत्तल पर यदि कोई यह कहकर एक मुट्ठी रेत रख दे कि अन्न भी ब्रह्म है और रेत भी ब्रह्म है, इसलिए एक थाली रेत ही दे दी है, अब तुम खाओ, तब क्या हाल होगा? जब हम कहते हैं कि सभी ब्रह्म है, तब इसका तात्पर्य व्यवहार से कभी भी नहीं होता। व्यवहार के पीछे जो अव्यवहार्य तत्त्व है, व्यवहार से अतीत जो समस्त विक्रिया से रहित तत्त्व है, जो कभी भी किसी प्रकार के परिणाम को प्राप्त नहीं होता, उस तत्त्व की ओर दृष्टि रखकर ही हम कहते हैं कि सभी ब्रह्म है या यह कि ब्रह्म और जीव अभेद हैं। ऐसा न हो तो जीव जिसे हम अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् देखते हैं और ईश्वर जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलय करते हैं—ये दोनों कभी अभिन्न नहीं हो

सकते। यदि अभिन्न होते, तब तो जीव ही जगत् की सृष्टि कर सकता। लेकिन जीव कभी भी ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि वह अल्पशक्तिमान् है। जीव के सम्बन्ध में शास्त्र कहते हैं, 'बालाग्रशतभागस्य शतधा-कल्पितस्य च भागो जीवः' (श्वेताश्वतर उप-निषद्, ५/९)। जीव कैसा है? एक केश लें, उसके सौ भाग करें, उन सौ भागों में से एक को लेकर पुनः उसके सौ भाग करें तो उसका एक भाग जितना सूक्ष्म होगा, उतना सूक्ष्म यह जीव है। अतः इस विराट् जगत् में—इस विश्व ब्रह्माण्ड में जीव भला कितना सा है? क्षुद्रातिक्षुद्र अणु से भी वह छोटा है। और ऐसा जीव यदि कहे कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो यह एकदम पागल की बकझक ही तो है।

तो, इस प्रकार से 'अहं ब्रह्मास्मि' नहीं होता। हमारे पीछे जो अविकारी सत्ता है, जिस सत्ता के रहने से हमारा समस्त व्यवहार सम्पन्न होता है, जिसका अवलम्बन करके मैं अस्तित्ववान् हूँ—मैं हूँ, मैं अनुभव करता हूँ, मुझे ज्ञान होता है—वस्तुतः वही सत्ता ब्रह्म के साथ अभिन्न है। हमें उस सत्ता की कोई धारणा तो होती नहीं और इधर कहते हैं—'मैं ब्रह्म हूँ'! ठाकुर कहते थे, "काँटा नहीं, चुभन नहीं, यह सब मुँह से कहने से क्या होगा? काँटा पर हाथ पड़ते ही, उसके चुभते ही 'उफ्' कह उठता हूँ। मैं शरीर नहीं, देहधारी जीव नहीं, इस तरह खाली मुँह से कहता हूँ, लेकिन पग-पग पर संसार हमें अनुभव करा दे रहा है कि मैं देह-धारी हूँ, जरा-मरणग्रस्त हूँ, सब प्रकार के बन्धनों से बँधा हूँ। विडम्बना यह है कि इसी 'मैं' को लेकर

कहता हूँ कि मैं इस बन्धनादि से मुक्त हूँ। ऐसा कहना निरा पागलपन है। एक पागल को देखा था, वह कहता कि वह अमुक राज्य का राजा है, और एक कागज के टुकड़े पर लिखकर एक व्यक्ति से कह रहा था––लो, तुम्हें यह चार लाख का चेक दिया, भुना लो। इधर बैंक में एक भी पैसा नहीं! इसे कहते हैं पागल। जो खाली अर्थहीन प्रलाप करता रहता है, जिसकी बात का यथार्थ से कोई मेल नहीं रहता, उसे पागल कहते हैं। अतएव तत्त्व की उपलब्धि के क्षेत्र में यदि हम शून्य हैं, और इधर मुँह से कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ', तो यह पागलपन के सिवा और कुछ नहीं है। मैं अपने अन्तःकरण की गहराइयों में यही समझता हूँ कि मैं देहधारी जीव हूँ, दो दिन पहले मैंने जन्म लिया था, दो दिन बाद मर जाऊँगा, सारा जीवन हजारों बन्धनों से बँधा हुआ हूँ और उधर मुँह से कहता फिरता हूँ कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। यह तो पागलपन है। ठाकुर बार-बार कहते हैं कि इस प्रकार का मिथ्याभिमान ठीक नहीं है। क्यों?––इसलिए कि ऐसा होने से उन्नति का और कोई मार्ग नहीं रहेगा। जिस उन्नति को हम पागलपन के कारण मिथ्या कहते हैं, उसके लिए फिर कोई चेष्टा नहीं रह जाती; क्योंकि मिथ्या वस्तु को प्राप्त करने के लिए मनुष्य में कभी भी आकांक्षा नहीं होती। इससे ब्रह्मानुभूति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

जगत् का मिथ्यात्व चरम अनुभूतिसापेक्ष है

हम स्वप्न को मिथ्या कहते हैं। कब कहते हैं? स्वप्न देखते समय स्वप्न को मिथ्या अनुभव नहीं करते। तब तो उसको एकदम सत्य ही समझते हैं। नींद खुलने

पर हम स्वप्न को मिथ्या कहते हैं। लेकिन जब तक हम स्वप्न के भीतर हैं, स्वप्नावस्था में दिखनेवाली वस्तुएँ जाग्रत् अवस्था में दिखनेवाली वस्तुओं के समान ही सत्य प्रतीत होती हैं, उनसे कम सत्य नहीं। जाग उठने पर स्वप्न की वस्तुओं को मिथ्या समझा जा सकता है, तब स्वप्नावस्था को मिथ्या कहा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था को मिथ्या कहने के लिए हमें जाग्रत् की अपेक्षा और भी अधिक उच्च-तर अवस्था में उठना होगा। तभी हम समझ सकेंगे कि जाग्रत् अवस्था भी मिथ्या है तथा तभी हमें उसे मिथ्या कहने का अधिकार होगा। जब तक हम इस जाग्रत् के भीतर हैं, तब तक हमें इस जाग्रत् अवस्था को मिथ्या कहने का कोई अधिकार नहीं है। यदि ऐसा है तो फिर शास्त्र या आचार्यगण जगत् को मिथ्या क्यों कहते हैं? इसलिए कहते हैं कि जगत् से परे स्थित तत्त्व की ओर आरोहण करने के लिए हमें इस उपदेश की आवश्यकता है। सोता हुआ व्यक्ति जब बर्राने लगता है, तब उसे पुकारकर उठा देना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार शास्त्र हमें सुषुप्ति अवस्था से जगा देने के लिए कहते हैं--'उत्तिष्ठत जाग्रत'। तुम सो रहे हो, सोये-सोये स्वप्न देख रहे हो, उठो जागो। शास्त्र या आचार्यगण यह नहीं कहते कि तुम कल्पना करो कि जगत् मिथ्या है। यह कल्पना हमें कभी भी 'जगत् मिथ्या है' ऐसा बोध नहीं करा सकती। जगत् के अतीत तत्त्व में न पहुँचने तक, ब्रह्म के सम्बन्ध में अपरोक्ष अनुभूति न होने तक यह जगत् अभी जैसा सत्य है, आज जैसा सत्य है, कल भी वैसा ही सत्य रहेगा। अतः जगत् को

व्यवहार की भूमि पर मिथ्या कहकर उड़ाया नहीं जा सकता। इसलिए ठाकुर कह रहे हैं कि जो इस प्रकार उड़ा देता है, उसकी बात भी उड़ा देने लायक होती है। ऐसी वेदान्त की बातों की ठाकुर निन्दा करते हैं।

श्रीरामकृष्ण की उपमा और व्याख्या

इसके बाद ठाकुर एक दृष्टान्त देते हैं। दृष्टान्त बहुत सुन्दर है। "यह कैसा है जानते हो? जैसे कपूर जलाने से कुछ भी शेष नहीं रह जाता। काठ को जलाने से तो फिर भी राख बच जाती है।" कपूर को जलाने से कुछ भी बाकी नहीं रह जाता, यह कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी उपलब्धियाँ, आवरण इत्यादि दूर होते होते अन्त में क्या बच जाता है? ठाकुर कहते हैं—कुछ भी नहीं बच रहता। कुछ भी बाकी नहीं रह जाता माने क्या? क्या सब शून्य हो जाता है? नहीं, ऐसा नहीं है। हमारा यह जो 'मैं' है, जिस 'मैं' को लेकर हम सदा व्यवहार करते हैं, उस 'मैं' के भीतर जो परिणामी वस्तुएँ हैं, जो परिवर्तित होती रहती हैं, वे सब एक एक करके समाप्त हो जाती हैं, और शेष रह जाती है एक वस्तु—वह स्वयं, जिसने बाकी सबको हटा दिया। मैंने उपाधियों को तो एक एक करके हटा दिया, लेकिन एक तत्त्व बचा रहा, उसे हटानेवाला कोई रह नहीं गया। अभिप्राय यह है कि जीव जब समस्त आवरणों से मुक्त हो जाता है, तब वह ब्रह्म के समान ही अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय हो जाता है—ब्रह्मरूप हो जाता है। तब उसके जीवत्व का कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। स्वामीजी (स्वामी

विवेकानन्द) ने इसी वेदान्त की बात अपनी भाषा में कही है—" 'नेति नेति' विराम जथाय ।" 'यह नहीं' 'यह नहीं' कहते हुए चलते चलते अन्त में जहां आकर मनुष्य रुक जाय, वहाँ अवशिष्ट रहता है 'एकरूप, अ-रूप-नाम-वरण-अतीत-आगामी-कालहीन, देशहीन, सर्वहीन' तत्त्व, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, जो जीव का प्रकृत स्वरूप है ।

यह जो शरीर, इन्द्रिय आदि को एक एक करके हटाना है, इसे कहते हैं 'अपवाद'—अध्यारोप का अपवाद—हमारे ऊपर जो कुछ आरोपित हो गया है, जो सब आवरण आ गया है, उस समस्त आवरण या आरोपित वस्तु को हटा देना । मानो आत्मा पर कितने ही खोल चढ़ा दिये गये हैं, उनको एक एक करके उतारकर हटा देना है । जब हटाते हटाते और कुछ भी हटाने का बाकी नहीं रहता, तब जो रहता है वह ही रहता है । यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ रहा नहीं । अनेक दृष्टान्त देते हुए ठाकुर ने कई स्थानों पर वेदान्त के इस सूक्ष्म तत्त्व को समझाने की चेष्टा की है । कभी कहा है कि प्याज का छिलका उतारते उतारते अन्त में कुछ नहीं बचता, उसी प्रकार उपाधियों को उतारते उतारते अन्त में कुछ भी ऐसा अवशिष्ट नहीं रह जाता जिसे उतारा जाय । कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाता इसका अर्थ यह है कि ऐसा कुछ रह नहीं जाता, जिसे अलग किया जाय । 'यह मैं नहीं', 'यह मैं नहीं' कहते कहते जहाँ निषेध करने के लिए और कुछ बाकी न रहे—निषेध का जहाँ अन्त हो जाय——वहाँ शब्दादि के द्वारा और कोई व्यवहार

सम्भव नहीं होता । उस स्थिति का शब्द के द्वारा उल्लेख नहीं किया जा सकता, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । वर्णन करेगा कौन ? ठाकुर कहते हैं कि नमक का पुतला समुद्र नापने गया और जाकर समुद्र में गल गया । समुद्र कैसा है, इसकी खबर कौन देगा ? नमक का पुतला—ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं । नमक पुतले का स्वरूप है । नमक ही उसका सब कुछ है, केवल एक आकार भर है । फिर समुद्र का स्वरूप भी नमक है । नमक का पुतला समुद्र को नापने के लिए समुद्र में उतरा—यह देखने कि समुद्र में कितना जल है, उसके भीतर क्या क्या है । लेकिन नापने जाकर वह गल गया । समुद्र के साथ उसका जो आकारगत पार्थक्य था, दूर हो गया । अब खबर देगा कौन ? ब्रह्म से भिन्नता प्रतीत करानेवाले जो धर्म थे, जो रूप थे, जो विशेषण थे, जीव जब ब्रह्म का अनुसन्धान करते करते उन सबसे एक एक करके मुक्त हो जाता है, तब ब्रह्म के स्वरूप को कौन बताएगा ? 'कठोपनिषद्' कहता है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम । १।१५

—जैसे एक बूँद जल शुद्ध जलराशि में गिरकर उस जलराशि के साथ अभिन्न हो जाता है, तद्रूप हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति की आत्मा भी ब्रह्म से अभिन्न हो जाती है । अर्थात् उसमें उस ब्रह्मवस्तु से पृथक् करने योग्य कोई धर्म अवशिष्ट नहीं रह जाता । वह ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाता है । लेकिन यह अभिन्नता अर्जित नहीं है । आवरणों को हटाना पड़ता

है, पोशाक उतारने के समान आरोपित वस्तुओं को एक एक करके हटाना पड़ता है—ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं कि जीव क्रिया के द्वारा ब्रह्म के साथ अभिन्नता अर्जित करता है। जैसा कि एक दृष्टान्त दिया जाता है—घड़ा समुद्र में पूरी तरह से डूबा हुआ है। हम कहते हैं कि यह घड़े का जल है और यह समुद्र का जल। वास्तव में घड़े में जो जल है, वही जल समुद्र में है। घड़े का जो आकार है, वह मानो समुद्र के जल को आकार दे देता है। घड़े को अगर तोड़ दिया जाय तो उसके जल का क्या होता है? क्या वह समुद्र में मिल जाता है? वह तो मिला हुआ था ही, वह कभी भी समुद्र के जल से पृथक् नहीं था—घड़े का जल और समुद्र का जल दोनों सदा एक ही थे। हम केवल घड़े के आवरण के कारण उन्हें पृथक् समझ रहे थे। विचार के द्वारा हमारा वह पार्थक्य-बोध दूर हो जाता है। जीव की भी ब्रह्म के साथ जो अभेद की प्रतीति है, उसका अर्थ कुछ अर्जन करना नहीं है, बल्कि यह है कि जो पार्थक्य-बोध उसके मन में विद्यमान है, जिसके परिणाम-स्वरूप उसका 'मैं' ठोस जमा हुआ सा बैठा है, उस पार्थक्य-बोध का लुप्त हो जाना। तब जो था, वही रह जाता है।

○

श्रीरामकृष्ण एवं भगवानदास बाबाजी

प्रव्राजिका श्यामाप्राणा

(श्री सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता)

गंगातट पर स्थित बंगाल के अनेक ग्राम श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणों का स्पर्श पाकर तीर्थ बन गये थे। एक ऐसा ही तीर्थ है कालना। श्रीरामकृष्णदेव इस गाँव में दो बार पधारे थे। पहली बार वे वहाँ मथुरानाथ के साथ तीर्थ-भ्रमण करते हुए पहुँचे थे। दूसरी बार भी वे मथुरानाथ के साथ ही वहाँ के निवासी भगवानदास बाबाजी से मिलने आये थे।

उन दिनों भगवानदास बाबाजी वैष्णव सम्प्रदाय के प्रख्यात गोस्वामी माने जाते थे। उनके भगवत्-प्रेम, वैराग्य, तपस्या एवं भक्ति की चर्चा सुनकर अनेक वैष्णव साधु-सन्त एवं वैष्णव मठाधीश भगवान-दास बाबाजी के पास नाना विषयों में उनकी सलाह लेने आते थे। जनसाधारण की उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति थी।

श्रीरामकृष्णदेव के दूसरी बार कालना जाने से पहले एक विचित्र घटना हुई थी। कलकत्ते के कोलू-टोला क्षेत्र में नित्य हरिसभा होती थी। उस हरि-सभा में एक गद्दी पर श्री चैतन्य महाप्रभु का आसन सजाया जाता, जिसके सामने भागवत-पाठ होता था। हरिसभा में श्री चैतन्य महाप्रभु उस आसन पर विराज-मान हैं---इस श्रद्धा एवं विश्वास के साथ उस आसन को सभी श्रद्धालु भक्त प्रणाम करते और पण्डितजी द्वारा किये जानेवाले भागवत-पाठ का श्रवण किया करते।

एक दिन कोलूटोला की उस हरिसभा में श्रीराम-कृष्णदेव पधारे थे। वे भी श्रोताओं के बीच बैठकर

भागवत-पाठ सुनने लगे । भागवत की अमृतमयी कथा सुन उन्हें भावावेश हो गया । उसी भाव में वे उठे और महाप्रभु के आसन पर जा खड़े हुए । उस आसन पर खड़े होते ही श्रीरामकृष्ण को गहरी समाधि लग गयी । उनके मुखमण्डल की छटा देख पाठक और श्रोतागण एक अनिर्वचनीय आनन्द से विभोर हो उठे। भागवत का पाठ स्थगित हो गया । सभी प्रेमोन्मत्त हो नाम-संकीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे । कुछ समय बाद श्रीरामकृष्णदेव की समाधि भंग हुई और वे दक्षिणेश्वर लौट आये ।

इस घटना की चर्चा सारे वैष्णव-समाज में शीघ्र ही फैल गयी । इसके कारण समाज में हलचल मच गयी । बात भगवानदास बाबाजी के कानों तक पहुँची । उन्होंने क्रुद्ध होकर महाप्रभु के आसन को सुरक्षित रखने का आदेश दिया, जिससे भविष्य में कोई भी उस आसन पर बैठने का दुस्साहस न कर सके । बाबाजी ने सोचा कि धूर्त और कपटी प्रवृत्ति-वाले लोग नाम-यश पाने के लोभ में उस आसन पर बैठने की धृष्टता कर सकते हैं । बाबाजी ने श्रीराम-कृष्णदेव को भी नहीं छोड़ा। उन पर दोषारोपण करते हुए उन्हें भण्ड, धूर्त, कपटी आदि कह डाला ।

अन्तर्यामी भगवान् श्रीरामकृष्ण को इस घटना के फलस्वरूप हुई सभी बातों का पता चल गया था । वे दुबारा कालना जाने को प्रस्तुत हुए । उन्होंने मथुरानाथ से अपनी इच्छा व्यक्त की । गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य करते हुए अविलम्ब नौका की व्यवस्था की गयी । मथुरानाथ शीघ्र ही श्रीरामकृष्णदेव और

हृदयराम के साथ कालना की ओर चल पड़े। अगले दिन प्रातः नौका कालना घाट पर लगी। मथुरानाथ अपने गुरुदेव के निवास की व्यवस्था करने कालना गाँव चल दिये; उधर श्रीरामकृष्णदेव भी हृदयराम के साथ भ्रमण को निकले। रास्ते में पूछते हुए दोनों भगवानदास बाबाजी के आश्रम पहुँचे।

श्रीरामकृष्ण ने अपने आने का समाचार देने हृदयनाथ को बाबाजी के पास भेजा। वे अपने को पूरी तरह सिर से पाँव तक कपड़े से ढककर हृदय के पीछे हो लिये। हृदय सीधा बाबाजी से मिलने आगे बढ़ा। हृदय ने आश्रम में बाबाजी को कहते सुना कि आज आश्रम में कोई महापुरुष पधारे हैं। यह कहकर बाबाजी ने उत्सुकता से चारों ओर देखा, पर हृदय के सिवा उन्हें कोई और नहीं दिखाई दिया। इस बात को सुन हृदय को बाबाजी की आध्यात्मिक शक्ति का आभास हो गया।

उस समय बाबाजी अन्य वैष्णव अखाड़ों के महन्तों के साथ उनकी समस्याओं के विषय में बात-चीत कर रहे थे। किसी ने उनसे प्रश्न किया कि एक वैष्णव साधु ने कोई अनुचित कार्य किया था, उसके लिए क्या उचित कार्यवाही हो ? विवरण जान बाबाजी ने क्रुद्ध हो आदेश दिया कि उस साधु की जपमाला छीन ली जाए और उसे वैष्णव-समाज से बाहर निकाल दिया जाए। इसी समय हृदय ने बाबाजी को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। बाबाजी भी कुछ नम्र हुए और उन्होंने मृदु भाव से उसका परि-चय पूछा। हृदय बोला, "मेरे मामा आपके दर्शन

करने आये हैं । वे भगवत्-स्मरण मात्र से बाह्य-संज्ञाहीन हो जाते हैं ।" बात करते करते बाबाजी लगातार अपनी जपमाला फेरते रहे । यह देख हृदय-राम पूछ बैठा, "बाबाजी, आप तो सिद्ध पुरुष हैं, फिर आपको माला फेरने की क्या आवश्यकता है ?"

बाबाजी ने बताया कि वे जनसाधारण को शिक्षा देने हेतु आवश्यक रूप से माला फेरते हैं । उन्होंने आगे कहा कि उन्हें माला फेरते देख अन्य लोग भी उसका अनुकरण करेंगे । ऐसा न करने पर साधारण व्यक्ति जप-तप आदि भूल जाते हैं और भ्रष्टाचार की ओर झुक जाते हैं ।

दूर एक कोने में बैठे हुए श्रीरामकृष्ण ने बाबाजी की सब बातें सुनीं । हठात् वहीं पर खड़े हो उन्होंने बाबाजी को सम्बोधित करके कहा, "तुम्हें किस बात का इतना घमण्ड है ? लोक-शिक्षा देनेवाले तुम कौन होते हो ? किसने तुम्हें यह अधिकार प्रदान किया ? किस बल पर तुम दूसरों को समाज से बहिष्कृत कर रहे हो ?"

इतनी बात कह श्रीरामकृष्ण भावसमाधि में मग्न हो गये । उनका बाह्यज्ञान चला गया एवं उनका मुखमण्डल एक दिव्य आभा से दमकने लगा ।

उन दिनों भगवानदास बाबाजी वैष्णव समाज के अत्यन्त आदरणीय नेता थे । उनकी आज्ञा सभी को मान्य थी । सभी साधु-महात्मा उनके आदेश का पालन कर अपने आप को धन्य समझते थे । उनकी बात का प्रतिवाद करने की या उनको भला-बुरा कहने की किसी की हिम्मत नहीं थी । उस दिन पहली बार श्रीरामकृष्ण की ऐसी बातें सुनकर बाबाजी

स्तब्ध रह गये । इस जगत् में ईश्वर ही एकमात्र कर्ता है, अन्य दूसरा कोई भी नहीं——यही वास्तविकता है । अहंकार के वशीभूत हो मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' के मिथ्या भ्रम में पड़ा रहता है । श्रीरामकृष्णदेव की बात बाबाजी के हृदय में उतर गयी और उनकी आँखें खुल गयीं । मिथ्या अहंकार का पर्दा हटते ही बाबाजी ने सरल विनम्र भाव से मन ही मन अपनी त्रुटियों को स्वीकार किया । भावाविष्ट अवस्था में श्रीरामकृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन कर बाबाजी ने समझ लिया कि एक असाधारण महापुरुष उनके सन्मुख हैं । उन्हें पता चला कि ये वही हैं, जिन्होंने कोलूटोला की हरिसभा में भावाविष्ट हो श्री चैतन्य महाप्रभु का आसन ग्रहण किया था एवं जिनको सभी दक्षिणेश्वर के परमहंस कहते हैं ।

यह सब जानने पर बाबाजी को अपनी करनी पर बहुत पश्चात्ताप हुआ कि नाहक ही उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को इतना बुरा-भला कहा था । बाबाजी ने श्रीरामकृष्ण से क्षमायाचना की और भक्तिभाव से उनको प्रणाम किया । कुछ समय बाद श्रीरामकृष्ण हृदयराम के साथ मथुरानाथ के पास आ गये और सारी घटना कह सुनायी ।

मथुरानाथजी ने भगवानदास बाबाजी की साधुता की प्रशंसा की । बाबाजी का दर्शन करने मथुरानाथ स्वयं बाबाजी के आश्रम में पधारे । आश्रम में नित्य पूजा, नैवेद्य प्रसादादि की यथोचित व्यवस्था करके एवं वार्षिकोत्सव के लिए पर्याप्त धनराशि दे मथुरानाथ वहाँ से लौटे । ○

मानस-रोग (८/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उनके आठवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनु-लेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।--स०)

गोस्वामीजी अरण्यकाण्ड में लक्ष्मणजी के साथ भगवान् श्री राम के वार्तालाप का वर्णन करते हैं। भगवान् राम लक्ष्मणजी से कहते हैं कि अलग अलग विकारों के बल का केन्द्र अलग अलग है। वे बतलाते हैं कि काम को नारी-सौन्दर्य का बल है और क्रोध को कठोर वाणी का। लोभ के लिए उन्होंने बल के केन्द्र दिखलाये--इच्छा और दम्भ। वे लिखते हैं--

लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल
मुनिबर कहहिं बिचारि।। ३।३८(ख)

प्रतापभानु के जीवन में सबसे पहले राज्य की इच्छा हुई। इसका अर्थ यह है कि पिता के राज्य-सत्ता में बने रहते हुए भी 'मैं राजा बनूं' ऐसी इच्छा प्रतापभानु के मन में विद्यमान थी। और ज्योंही पिता ने कहा कि तुम इस राज्य का संचालन करो, उसने अपनी इच्छा की पूर्ति का अवसर पा उसे स्वीकार कर लिया। अपनी इच्छा को यह कहकर उसने अपनी बुद्धि का समर्थन दे दिया कि मैं तो पिताजी के आदेश से राज्य ले रहा हूँ, वस्तुतः मेरे मन में राज्य लेने की कोई आकांक्षा नहीं है। फिर

गोस्वामीजी कहते हैं कि राजा होने के बाद वह चतुरंगिणी सेना सजाता है तथा राजाओं के राज्य पर आक्रमण करता है। यही इच्छा का विस्तार है। उसे लगता है कि पिता ने जितना राज्य दिया, यदि उसी को चलाता रहा तो मेरी क्या विशेषता? तब तो मैं अयोग्य पुत्र ही कहलाऊँगा। मेरी योग्यता तो इस राज्य को बढ़ाने में है, और बढ़ाने का उपाय यही है कि अपने भाग पर तो अधिकार कर ही लें, दूसरे के भाग को भी छीनने की चेष्टा करें। और यह केवल प्रतापभानु का ही मनोभाव नहीं है, यह लिप्सा की प्रवृत्ति हम सबमें रूढ़ है। हम समझते हैं कि जब तक दूसरों की समृद्धि के भाग को छीनकर हम उसके स्वामी नहीं बन जाते, तब तक हमारी योग्यता कुछ दिखती नहीं। दूसरे राजाओं का राज्य छीनकर प्रतापभानु मन में गर्व का अनुभव करता है। पिताजी तो थोड़े से राज्य में ही सन्तुष्ट थे, पर मैं तो आज विश्व में चक्रवर्ती सम्राट् हूँ—

सकल अवनिमंडल तेहि काला।
एक प्रतापभानु महिपाला॥ १।१५३।८

पर इतना होकर भी प्रतापभानु सन्तुष्ट नहीं हो पाता। यही लोभ की प्रवृत्ति है, जिसे गोस्वामीजी 'अपारा' कहकर व्यक्त करते हैं। ज्यों ज्यों इच्छा की पूर्ति होती है, त्यों-त्यों मनुष्य का लोभ बढ़ता जाता है।

फिर गोस्वामीजी एक तीसरा चित्र प्रस्तुत करते हैं। प्रतापभानु अपने मंत्रियों और सेनापतियों के साथ वन में शिकार खेलने के लिए जाता है। वह बड़ा निशानेबाज था, अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुण था।

जब उसका निशाना लग जाता, तो आसपास के लोग, उसके मंत्री और सेनापति उसकी प्रशंसा करने लगते कि आपका निशाना तो अचूक है । इससे वह बड़ा प्रसन्न होता । पर अब गोस्वामीजी इसका दूसरा पक्ष रखते हैं और बतलाते हैं कि लोभ धीरे धीरे उसे कहाँ ले जाता है । जब प्रतापभानु दिन भर शिकार खेलने के बाद दिन ढलने के कारण लौट रहा था, तो उसके सामने एक बड़ा बनैला सूअर आ गया । उस सूअर के दाँत चमकीले थे । प्रतापभानु ने धनुष की डोरी उतार डाली थी और बाण को तरकस में रख लिया था । पर उस सूअर को देखकर उसे लगा कि इसे क्यों छोड़ा जाय, जब यह सामने आ गया है तो इसे भी पा लें । यह शूकर क्या है ? गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में (५९) व्याख्या करते हुए कहते हैं--

संसार-कांतार अति घोर, गंभीर, घन, गहन तरु
कर्म-संकुल मुरारी ।. . .लोभ शूकर रूप . . .।

---यह शूकर है लोभ । इसमें दो संकेत हैं । अन्य जितने मृग थे, वे तो बाहर और भीतर एक जैसे थे, पर यह जो शूकर-मृग प्रतापभानु के सामने आया, वह केवल देखने में मृग सरीखा था । उसके दाँत बड़े चमकीले थे, देखने में आकर्षक प्रतीत होता था, पर वह कालकेतु नाम का राक्षस था। गोस्वामीजी का संकेत यह है कि यह लोभरूप मृग भले ही आकर्षक प्रतीत होता है, पर दिखने में अभी जैसा है, वैसा बाद में नहीं रहता । यह बात जीवन में भी दिखाई देती है । जब मनुष्य के मन में किसी वस्तु के प्रति लोभ

आता है और उसे पाने के लिए उत्कण्ठा होती है, तो उसे वह वस्तु बड़ी आकर्षक प्रतीत होती है। पर बड़ी विचित्र बात यह है कि जब वही आकर्षक वस्तु व्यक्ति को मिल जाती है, तो जिस कल्पना के वशीभूत हो उसने उस वस्तु को पाने की चेष्टा की थी, वह साकार नहीं हो पाती। यहाँ पर भी मृग अन्त में भीतर से राक्षस निकलता है।

रामायण के दो मृगों का एक दिन सांकेतिक प्रसंग आया था। रावण सीताजी को ठगने के लिए सुनहला मृग ले आया था, और वह स्वयं चाँदी के से दाँतोंवाले मृग से ठगा गया, क्योंकि आखिर यह प्रतापभानु ही तो रावण बना न! यह बुराई का मनोविज्ञान है। व्यक्ति एक बार जब किसी से ठगा जाता है तो दूसरे को ठगने के लिए वह उसी कला का प्रयोग करता है। कहीं किसी को नोट भुनाने में नकली नोट मिल गया। अब होना तो यह चाहिए था कि जब व्यक्ति को मालूम पड़ गया कि नोट नकली है, तो वह उसे फेंक देता। पर ऐसा होता नहीं। मनुष्य में स्वार्थवृत्ति आ जाती है और वह सोचता है कि मैंने जब धोखा खाया, तो मैं क्यों घाटे में रहूँ। और वह उस नकली नोट को चलाने की ताक में रहता है। इस प्रकार वह नकली नोट एक के हाथ से दूसरे के हाथ में घूमता रहता है। किसी के द्वारा हम ठगे जाते हैं तो हम दूसरे को ठगते हैं और वह तीसरे को ठगता है। इस प्रकार से बुराई का चक्र प्रारम्भ होता है। समाचार-पत्रों में ठगी की इतनी घटनाएँ निकलती हैं, लेकिन इस मृग के प्रति आकर्षण कभी खत्म नहीं होता। वैसे

लोग बातचीत में कह दिया करते हैं कि किसी साधु ने किसी भोलेभाले व्यक्ति को ठग लिया। लोग समझते हैं कि वह साधु ठग था। लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि व्यक्ति साधु से या किसी वेश से नहीं ठगा जाता, वह तो अपने स्वार्थ और लोभ की वृत्ति से ठगा जाता है। सामनेवाला व्यक्ति जब समझ लेता है कि यह पक्का लोभी है और उसके मन में वेष के साथ चमत्कार की बात जुड़ी हुई है, तो वह नकली वेश बना लेता है और हाथ की सफाई से नोट दुगुना बनाकर दिखा देता है। लोभी सोचता है कि व्यापार में तो नोट को दूना बनाने में समय लगेगा, पर एक ही क्षण में सारे नोट दूने बन जाएँ तो इससे बढ़िया क्या बात होगी ! और वह ठगा जाता है। प्रश्न यह है कि वह किसके द्वारा ठगा जाता है ? व्यक्ति के द्वारा नहीं, अपने ही लोभ के द्वारा। तिस पर विचित्रता यह है कि ठगे जाने पर भी लोगों पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता कि वे सावधान हो जायें। नित्य ठगने की नयी नयी कला निकलती रहती है और ठगे जानेवालों की संख्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। तो, गोस्वामीजी इस सन्दर्भ में इसी का संकेत करते हैं। वे कहते हैं कि यह लोभ भले ही चाँदी की तरह दिखाई दे अथवा सोने की तरह, वह या तो कालकेतु राक्षस होगा अथवा मारीच। और वह जीवन से सुख-शान्ति को दूर भगा देगा, हमारी वृत्ति को न जाने कहाँ ले जाएगा।

गोस्वामीजी कहते हैं कि शूकर को देख प्रताप-भानु के मन में बड़ा आकर्षण उत्पन्न हो गया, उसे

ऐसा लगने लगा कि दिन भर में ऐसा बढ़िया शिकार हमें और कोई नहीं मिला, इसलिए इसको जरूर मारा जाय। ऐसा सोच उसने बाण चलाया। लेकिन प्रकृति का नियम है कि कितना भी कोई सफल व्यापारी क्यों न हो, सफल द्रव्य कमानेवाला क्यों न हो, पर हजार वार सफलता मिलने पर भी वह यह दावा नहीं कर सकता कि हमें घाटा नहीं होगा। उसका लक्ष्य ऐसा नहीं कि कभी अधूरा न रह जाय। यही प्रतापभानु के जीवन में हुआ। उसने सूअर पर जितने बाण चलाये, सब विफल हो गये—'करि छल सुअर सरीर बचावा' (१।१५६।३)। प्रतापभानु अब भी अपने को सन्तोष दे सकता था कि कोई बात नहीं, हजारों लक्ष्य हमारे सफल हुए, इस बार यदि अस-फलता मिल गयी तो चिन्ता की बात नहीं। पर ऐसा नहीं हुआ, उसमें दूसरी वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके अन्तःकरण में क्रोध जुड़ जाता है—'रिस बस भूप चलेउ सँग लागा' (१।१५६।४)। उसको लगने लगता है कि अरे, हमारे मंत्री और सेनापति भी अब सोचने लगेंगे कि राजा का निशाना भी अचूक नहीं है, और इस प्रकार मैं इनकी दृष्टि में हल्का सिद्ध हो जाऊँगा। अतः उसने निश्चय किया कि नहीं, उस शिकार को तो मारकर ही लाना है। वह घोड़े पर चढ़कर शूकर के पीछे दौड़ा, पर शूकर की गति घोड़े की गति से तीव्र हो जाती है।

शूकर यदि लोभ है, तो घोड़ा पुरुष का पुरुषार्थ है। प्रतापभानु आज तक यही समझता था कि मेरा घोड़ा बड़ा तेज है, लेकिन घोड़े के तेज होते हुए भी

वह शूकर को नहीं पकड़ पाया । इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति में कितना भी उत्साह, कितना भी पुरुषार्थ क्यों न हो, पर कोई भी लोभी और पुरुषार्थी आज तक लोभ के शूकर को पकड़ नहीं पाया । लोभ की गति तीव्र ही रहती है, चाहे उत्साह और पुरुषार्थ कितना भी हो । यह इन दोनों की होड़ है । इस होड़ में गोस्वामीजी लिखते हैं, जितने मंत्री और सेनापति थे, वे सब छूटते चले गये । यह व्यावहारिक अर्थ में बड़े काम की बात है और आध्यात्मिक अर्थ में भी । जब राजा शूकर के पीछे लगा तो मंत्रियों और सेनापतियों तथा सैनिकों ने भी अपने अपने घोड़े शूकर के पीछे लगा दिये । लेकिन धीरे धीरे सैनिकों, सेनापतियों और मंत्रियों के घोड़े पिछड़ जाते हैं । यहाँ पर गोस्वामीजी एक मनोवैज्ञानिक सत्य सामने रखते हैं, वह यह कि लोभी उदारता दिखाने की चेष्टा करता है । प्रतापभानु की उदारता यह थी कि वह केवल अपने लिए घोड़ा नहीं रखता, अपितु अपने मंत्रियों के लिए भी, सेनापतियों तथा सिपाहियों के लिए भी घोड़े की व्यवस्था करता है। प्रतापभानु का व्यवहार देख लगता है कि वह सबके लिए बड़ा उदार है । रावण के चरित्र में भी यह बात दिखाई देती है । आखिर प्रतापभानु ही तो रावण के रूप में जन्म लेता है । एक ओर रावण अपने ही बड़े भाई कुबेर पर धावा बोलकर उसकी सोने की लंका छीन लेता है तो दूसरी ओर उसमें उदारता की प्रक्रिया भी दिखाई देती है । गोस्वामीजी लिखते हैं—

जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे ।

सुखी सकल रजनीचर कीन्हे ।। १।१७८।७

—रावण सब कुछ अपने लिए ही नहीं रखता, बल्कि वह योग्यता के अनुसार राक्षसों को घर बाँट देता है। इससे राक्षस बड़े प्रसन्न होते हैं, वे सोचते हैं कि रावण कितने उदार हैं, वे हमारा कितना ध्यान रखते हैं, उन्होंने सारी लंका केवल अपने लिए नहीं ले ली, अपितु हमें भी घर दिया । यह बात और थी कि रावण की उदारता उसकी दूरगामी योजना का अंग थी। संसार में जितने भी लोभी और स्वार्थी होते हैं, उनकी बड़ी दूरगामी योजना हुआ करती है । रावण की इस उदारता के उद्देश्य का पता तब चला, जब लंका के युद्ध के समय बन्दरों के आक्रमण से राक्षस भागने लगे । उन्होंने पीछे देखा तो रावण को तलवार लेकर खड़ा पाया । रावण ने उन्हें याद दिलायी कि तुम लोगों को रहने के लिए जो सोने के भवन दिये गये और भोग की बढ़िया सामग्री दी गयी, वह आज ही के लिए तो दी गयी थी । वह कहता है—

सर्बसु खाइ भोग करि नाना ।
समरभूमि भए बल्लभ प्राना ।। ६।४१।८

—मेरा सब कुछ खाया, भाँति-भाँति के भोग किये और अब रणभूमि में प्राण प्यारे हो गये ! इसका अर्थ यह है कि स्वार्थी अपनी उदारता की क्रिया में भी अपने स्वार्थ का ध्यान रखता है । प्रतापभानु ने भी यह ध्यान तो रखा कि मंत्रियों, सेनापतियों और सिपाहियों तक को घोड़े मिलें, पर उसने यह भी सावधानी रखी कि उसका जैसा घोड़ा और किसी का न हो । लोभी दूसरों को कुछ देता तो है, पर इसका

ध्यान रखता है कि वे उससे कुछ नीचे ही रहें, उन्हें इतना न मिल जाय कि वे उससे बराबरी करने लगें अथवा उससे आगे निकल जायँ । बँटवारे के समय भी उसके मन में यह वृत्ति बनी रहती है कि दूसरे को छोटा बनाये रखना है ।

गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि भगवान् राम भी दान देते हैं और रावण भी दान देता है, रावण लंका में राक्षसों को भवनों का दान कर देता है, तब भगवान् राम जो दान करते हैं उसकी क्या विशेषता है ? गोस्वामीजी कहते हैं, भगवान् राम कब दान करते ह, इसकी कल्पना कीजिए । तब समझ जाएँगे कि भगवान् राम के दान में क्या अन्तर है । 'दोहा-वली रामायण' में तुलसीदासजी लिखते हैं——जब विभीषण भगवान् राम के पास आये, तब भगवान् राम की क्या दशा थी ?——

बलकल भूषन फल असन तृन सज्या द्रुम प्रीति ।
तिन्ह समयन लंका दई यह रघुबर की रीति ।। १६२

——वे पेड़ की छाल पहनते थे, भोजन में जंगल के कन्द-मूल-फल का सेवन करते थे, सोने के लिए तिनके बिछाते थे और वृक्षों के नीचे रहते थे । इसका अभिप्राय यह है कि तब भौतिक दृष्टि से भगवान् राम के पास कुछ नहीं था । और जब भौतिक दृष्टि से व्यक्ति के पास कुछ नहीं रहता तो यह स्वाभाविक है कि वह पहले अपने लिए संग्रह करना चाहेगा । पर भगवान् राम की विशेषता यह है कि ऐसे समय में भी उन्होंने लंका के राज्य को अपने लिए लेने की कल्पना तक नहीं की, वरन् विभीषण

को उसके दान का संकल्प कर दिया । भगवान् राम के मन में यह विचार भी आ सकता था कि मैं कैकेयी को दिखा दूँगा कि लो, तुमने अयोध्या का राज्य छीन लिया तो मैंने एक नया राज्य बना लिया; देखो, मेरा कितना बड़ा पुरुषार्थ है ! पर भगवान् श्री राघवेन्द्र के मन में तो ऐसी कल्पना तक नहीं आती । वे यही सोचते हैं कि लंका का आधिपत्य विभीषण को प्राप्त होना चाहिए । इसका अभिप्राय यह है कि प्रभु के चरित्र में दूसरे को अपने से विशिष्ट बनाने की उदारता है । स्वार्थी व्यक्ति दूसरों को बुद्धि के क्षेत्र में, धन के क्षेत्र में, बल के क्षेत्र में—हर क्षेत्र में अपने से न्यून बनाये रखने की चेष्टा करता है । वह तब तक हमसे जुड़ा रहता है, जब तक हम भौतिक दृष्टि से सफल रहते हैं । पर जब वह देखता है कि हम असफल हो रहे हैं, तो वह साथ छोड़ देता है । प्रतापभानु के साथ ऐसा ही हुआ । यदि उसने मंत्रियों और सेनापतियों के लिए भी वैसे ही शक्तिशाली घोड़े दिये होते, जैसे उसके घोड़े थे, तो शायद वह वन में अकेला नहीं छूट पाता । पर वह तो पहले से ही स्वार्थपरता के कारण उन्हें दुर्बल घोड़े देकर अपने से न्यून बनाये रखना चाहता था । फल जो होना था, वही हुआ । उसकी स्वार्थपरता उसके लिए बड़ी महँगी सिद्ध हुई ।

गोस्वामीजी से पूछा गया कि महाराज जनक के राज्य में क्या विशेषता है ? वे बोले—

सूर सचिव सेनप बहुतेरे ।
नृपगृह सरिस सदन सब केरे ।। १।२१३।३

—महाराज श्री जनक के बहुत से शूरवीर, मंत्री और सेनापति हैं तथा उन सबके घर भी राजमहल-सरीखे ही हैं। इसका तात्पर्य यह कि जनक के राज्य में यह पहचानना कठिन है कि महाराज जनक का घर कौन सा है तथा उनके सेनापति, उनके मंत्री और उनके सिपाहियों का घर कौनसा है, क्योंकि देखने में सब एकसमान हैं। मतलब यह कि जनक के जीवन में केवल विचार में ही नहीं बल्कि व्यवहार में भी समत्व का विस्तार हुआ है। उनका ज्ञान मात्र उनकी बुद्धि या विचार में ही समत्व की सृष्टि नहीं करता अपितु उनके व्यवहार को भी समत्व से भर देता है। दूसरी ओर जहाँ पर स्वार्थपरता होती है, वहाँ विषमता की सृष्टि होती है। स्वार्थी व्यक्ति दूसरों के जीवन में दरिद्रता पैदा करने की चेष्टा करता है। फलस्वरूप समय पर उसे किसी का साथ नहीं मिल पाता। प्रतापभानु के साथ यही हुआ। उसका अपने मंत्रियों और सेनापतियों से साथ छूट गया और वह क्रोध के मारे सूअर के पीछे लगा रह गया। जब वह जंगल में भटककर पीछे लौटता है, तो देखता है कि न तो मंत्रीगण हैं, न सेनापति और न सिपाही ही। तब वह अपने को अत्यन्त अकेला अनुभव करता है—

अति अकेल बन बिपुल कलेसू (१।१५६।६)

—एक तो वन, रास्ते में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ, तिस पर कोई भी साथ नहीं। यहाँ 'अति अकेल' कहते हुए गोस्वामीजी एक बड़ी बात कह देते हैं। जीवन में कभी ऐसा अवसर भी आता है, जब लोग साथ छोड़ देते हैं। ऐसे समय हमारे सारे ग्रन्थ,

सारे भक्तों की गाथाएँ यही बताती हैं कि कोई बात नहीं, भले ही सब साथ छोड़ दें लेकिन ईश्वर कभी हमारा साथ नहीं छोड़ता । वह गर्भ में भी हमारे साथ है और मृत्यु के बाद भी जब सबका साथ छूट जाता है, तब भी वही एकमात्र साथी है । अतः इस दृष्टि से विचार करें तो अकेलापन भी वरदान बन सकता है । अगर अकेलेपन में व्यक्ति को अन्य आश्रयों की विस्मृति हो जाय और ईश्वर के प्रति चरम आश्रय का भाव मन में आ जाय, तो ऐसा अकेलापन सार्थक हो जाता है । गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं ।
और आस-बिस्वास भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई । १०३

—हे नाथ, दूसरों से आशा, दूसरों के प्रति भरोसा, दूसरों के प्रति विश्वास—यह जो जीव की नासमझी है, इसे कृपा करके दूर कर दीजिए ।

यदि दूसरों के प्रति आशा-भरोसा-विश्वास न रहे, तो जाएँ कहाँ ? इस पर कहते हैं—

ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इकठाईं

—मैं चाहता हूँ कि हमारी अन्तःकरण की जितनी वृत्तियाँ हैं, वे सब की सब सिमटकर आपके चरणों में लग जायें । आशा हो तो आपसे, भरोसा हो तो आपसे, विश्वास हो तो आपसे ।

प्रतापभानु के जीवन में भी यही स्थिति आ सकती थी । उसने जब देखा कि अब तो सभी ने साथ छोड़ दिया, उस समय यदि उसे इस बात की याद आ गयी होती कि अरे, भले ही सबने साथ

छोड़ दिया, पर हमारे प्रभु तो हमारे साथ ही हैं, तो अकेलापन उसे नहीं खलता। तुलसीदासजी शब्द भी लिखते हैं तो कहते हैं—'अति अकेल'। अब 'अकेला' और 'अत्यन्त अकेला' में क्या अन्तर है ? जब बाहर के लोग साथ छोड़ दें तो 'अकेला' और जब ईश्वर का भी विस्मरण हो जाय तो 'अति अकेला'। तात्पर्य यह कि उस समय प्रतापभानु को ईश्वर की भी याद नहीं रही। ऐसे समय उसकी इच्छा उसे लोभ-मृग के पीछे दौड़ाती ले गयी। यही उसके पतन का कारण बनता है।

गोस्वामीजी लिखते हैं कि एक ऐसा राजा था, जिसका राज्य प्रतापभानु ने छीन लिया था। वह भी बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। अन्य राजाओं ने तो प्रतापभानु को भेंट देकर सन्धि कर ली थी, पर इस राजा ने निश्चय किया कि नहीं, हम अपने राज्य में प्रतापभानु का प्रवेश नहीं होने देंगे, यदि आवश्यकता पड़ी तो हम राज्य भी छोड़कर चले जाएँगे, पर प्रतापभानु के सामने झुकेंगे नहीं। और जब प्रतापभानु की सेना आयी, तो वह राज्य छोड़कर वन में भाग गया और मुनि का वेष बनाकर वहाँ बैठ गया। पर इससे क्या वह त्यागी बन गया ? त्याग भी दो प्रकार का होता है। एक त्याग होता है त्याग के लिए और दूसरा होता है दम्भ के लिए, कुछ पाने के लिए—हम जो सीधे न पा सकें, उसे त्याग का दिखावा करके पाने के लिए। तो, इस पराजित राजा ने यह निर्णय किया कि हम मुनि का वेष बनाकर वन में रहेंगे और अपने खोये राज्य को प्राप्त करने की चेष्टा

करेंगे । इधर वह कालकेतु राक्षस, जो मृग के, सूअर के रूप में प्रतापभानु को छलता है, उसे उस कपटमुनि के आश्रम में पहुँचा देता है । अब कपटमुनि और राजा का मिलन हो गया । एक राजा है, सत्ताधीश है और दूसरा है त्यागी; लेकिन सत्य क्या है ? यह कि जो राजा है, वह भीतर से दरिद्र है और जो त्यागी है, वह भीतर से पक्का लोभी है । दोनों ऊपर से जैसा दिखाई देते हैं, वैसे नहीं हैं । गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं कि संसारवाले जब मिलते हैं तो आपस में सौदा पटाते हैं— 'हाथी स्वान लेवा देई' करते हैं—सोचते हैं कि सामनेवाले को कुत्ता देकर बदले में हाथी ले लें—थोड़ा दकर ज्यादा पा लें । यदि आदमी ज्यादा धूर्त निकला, तो सोचता है कि अगर कुत्ते के बदले हाथी देना है तो असली हाथी क्यों दें, कागज का हाथी दे दें । तो 'हाथी स्वान लेवा देई' की टकराहट यहाँ भी दिखाई दे रही है— एक है राजा और दूसरा है त्यागी । राजा वह है जो बड़ा हो, देने में समर्थ हो और त्यागी वह है, जिसे कुछ नहीं चाहिए । लेकिन ये दोनों दिखावा करते हैं । उनके भीतर कुछ और है तथा बाहर कुछ और । प्रतापभानु कपटमुनि से पूछता है—आपका परिचय ? तो वह कहता है—

नाम हमार भिखारि अब (१।१६०)

—हमारा नाम भिखारी समझ लो । मुझ-जैसे निर्धन और घर-द्वारहीन का भला क्या परिचय ? कपटमुनि कैसी निरभिमानिता प्रकट करता है । भगवान् राम जो कहते हैं कि 'लोभ क इच्छा दंभ बल' उसे गोस्वामी-

जी यहाँ प्रत्यक्ष दिखा देते हैं। इससे प्रतापभानु के मन में श्रद्धा बढ़ जाती है। वह सोचने लगता है कि ये तो बड़े निरहंकारी सन्त प्रतीत हो रहे हैं। गोस्वामीजी का संकेत यह है कि यदि अहंकारी व्यक्ति अहंकारी दिखाई दे तो डर नहीं है, पर अगर अहंकारी निरहंकारी लगने लगे, तो बड़ा खतरनाक होता है। रावण मारीच के पास गया और चरणों में प्रणाम किया। इससे लगता है कि रावण भी कभी कभी भलमनसाहत का काम कर दिया करता था, कभी-कभी बड़ों को प्रणाम कर देता था। पर शंकरजी पार्वती से कहते हैं कि इस प्रसंग से तुम्हें प्रसन्न नहीं होना चाहिए। क्यों? इसलिए कि——

नवनि नीच कै अति दुखदाई। (३/२३/७)

——नीच न झुके तो कम दुःखदायी होता है, और यदि झुक जाय तो अतिशय दुःखदायी हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि नहीं झुकेगा तो व्यक्ति साव-धान रहेगा कि देखो भइ, यह चला आ रहा है। पर यदि वह पैर छूने के लिए झुक गया तो व्यक्ति सोचेगा कि अब चिन्ता की क्या बात है। वह नहीं समझ पाता कि नीचे जो झुका है, वह पैर छूने के लिए नहीं वरन् पैर को पकड़कर खींचने के लिए, गति को रोक देने के लिए। ऐसी स्थिति में यह निरभिमानता नहीं बल्कि दम्भ का ही दूसरा रूप है। कपटमुनि महा अभि-मानी है। यदि वह चाहता तो प्रतापभानु की अधीनता स्वीकार कर उससे समझौता कर सकता था। सब राजाओं ने उससे कहा, "प्रतापभानु का सामना भला कौन करेगा? आप भी समझौता कर लीजिए।" पर वह बोला, "तुम लोग भले झुक जाओ, पर मैं नहीं

झुकूँगा।" राजाओं ने पूछा, "तो क्या आप प्रतापभानु से लड़िएगा?" उसने कहा, "अरे भाई, उसका नाम प्रतापभानु ही तो है, भानु का प्रताप शाम को भी क्या ज्यों का त्यों रहता है? जब उसके डूबने का समय होगा, तब उसको अच्छी तरह से डुबोऊँगा। मैं प्रतीक्षा करना जानता हूँ। कोई बात नहीं, तुम लोग बारह बजे दिन में घबरा उठे हो। लेकिन मैं जानता हूँ कि जब छः बजेंगे, तब उसकी दुर्दशा होनेवाली है।" परिणाम क्या हुआ? गोस्वामीजी लिखते हैं—

जिमि जिमि तापसु कथइ उदासा।
तिमि तिमि नृपहि उपज बिस्वासा॥१/१६१/५

—ज्यों-ज्यों वह कपटमुनि उदासीनता की बातें कहता था, त्यों-त्यों राजा प्रतापभानु के मन में विश्वास उत्पन्न होता जाता था।

रामायण में विश्वास के दो पक्ष दिखाये गये हैं। 'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' कहकर उसके एक पक्ष की महिमा गायी गयी है और कहा गया है कि ईश्वर में, सन्त में विश्वास होना परम कल्याणकारी है; पर उसके साथ ही दूसरे पक्ष के रूप में ऐसे भी पात्र बताये गये हैं, जहाँ विश्वास बड़ा घातक सिद्ध हुआ। केवल विश्वास होना अपने आप में गुणकारी नहीं है। इसका कोई अर्थ नहीं कि चाहे जहाँ विश्वास कर लिया। रावण पर सीताजी ने विश्वास किया। प्रताप-भानु ने कपटमुनि पर विश्वास किया। तो इन लोगों का विश्वास साधक सिद्ध हुआ कि घातक? तात्पर्य यह है कि जहाँ पर हम बिना विचारे अपना विश्वास स्थापित कर देते हैं, वहाँ हमारे लिए विश्वास घातक

सिद्ध होता है। प्रतापभानु की ऐसी ही दशा हुई। वह कपटमुनि के जाल में फँसकर कहता है--

तुम सारिखे गलित अभिमाना।
सदा रहहिं अपनपौ दुराएँ।
सब बिधि कुसल कुबेस बनाएँ ।।१/१६०/१-२

--'आपके समान अभिमानरहित सन्त अपने स्वरूप को सदा छिपाये रहते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि कुवेष बनाकर रहने में ही सब तरह का कल्याण है।' फिर प्रतापभानु ने कपटमुनि से उसका नाम पूछा। उत्तर में उसने कहा--

नाम हमार एकतनु भाई।१/१६१/७

--"मेरा नाम एकतनु है।" प्रतापभानु बोला, "महाराज, यह तो बड़ा विचित्र नाम है, ऐसा नाम हमने कभी सुना नहीं। 'एकतनु' का अर्थ क्या है?" कपटमुनि ने कहा--

आदिसृष्टि उपजी जबहिं तब उतपति भै मोरि।१/१६२

--"जब से सृष्टि पहले उत्पन्न हुई, तब से मेरा यह शरीर वही है। अन्य लोगों का शरीर बदलता रहता है, पर मैं एकतनु हूँ।"

व्यक्ति कितना भ्रमित हो जाता है। रहीम से किसी ने पूछा, "लोग धोखा क्यों खा जाते हैं?" रहीम ने उत्तर में बढ़िया बात कही--

"दिये लोभ चश्मा चखन. लघुहू बड़ो लखाय"

--जब लोभ का चश्मा आँखों पर चढ़ जाता है, तो छोटा भी बड़ा दिखाई देने लगता है। कई शीशे ऐसे होते हैं. जो छोटी वस्तु को बड़ा करके दिखाते हैं। इससे लोग धोखा खा जाते हैं। प्रतापभानु को कपटमुनि पर ऐसी ही श्रद्धा हो गयी। वह बोला--महाराज,

आपके समान तो मुझे कोई व्यक्ति ही नहीं मिला। पहले जब कपटमुनि ने प्रतापभानु से उसका परिचय पूछा था, तो प्रतापभानु ने कहा था—

नाम प्रतापभानु अवनीसा।
तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा ।।१/१५८/५

—"हे मुनीश्वर, सुनिए, प्रतापभानु नाम के एक राजा हैं, मैं उनका मंत्री हूँ।" प्रतापभानु साफ झूठ बोल गया था। लेकिन जब उसने यह चमत्कार देखा तो बोल उठा, "महाराज, मैं आपसे झूठ बोल गया था। मैं उसमें संशोधन करना चाहता हूँ।" कपटमुनि ने तुरन्त रोका, बोला, "बतलाने की क्या जरूरत? हम तो पहले ही जान गये थे।"

"तब तो महाराज, आप मुझ पर बड़े रुष्ट होंगे"—प्रतापभानु ने पूछा।

कपटमुनि बोला, "नहीं, तुमने जो कपट किया, वह मुझे अच्छा लगा"—

कीन्हेहु कपट लाग भल मोही ।।१/१६२/८

—तुम बड़े राजनीतिज्ञ हो, बड़े बुद्धिमान् हो। पर प्रतापभानु उसका व्यंग्य नहीं पकड़ पाया। कपटमुनि का तात्पर्य यह था कि तुमने जब कपट किया, तब मैं भी यदि तुमसे कपट करूँ तो कोई दोष नहीं होगा। चलो, यह अच्छा हुआ कि कपट तुम्हारी ओर से शुरू हुआ। पहले मैंने पूछा कि तुम कौन हो, तो तुम झूठ बोल गये। इससे मुझे प्रसन्नता ही हुई कि चलो मुझे भी झूठ बोलने की सुविधा मिल गयी!

परिणाम यह होता है कि प्रतापभानु कपटमुनि के जाल में भयंकर रूप से जकड़ जाता है। कपटमुनि

बोला, "हम तुम पर प्रसन्न हैं, तुम्हें कुछ चाहिए?" प्रतापभानु कहता है—

चारि पदारथ करतल मोरें।।१/१६३/७

—"मैं तो सब कुछ पाये हुए हूँ।" "तो तुम्हें कुछ नहीं चाहिए?"—कपटमुनि ने पूछा। प्रतापभानु बोला, "महाराज, मुझे चाहिए तो नहीं था, लेकिन आप-जैसा महापुरुष यह कहे, तो महापुरुष से प्रसाद न लेना उसका अनादर करना है, इसलिए आप जब ऐसा कह रहे हैं तो—

प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी।
मागि अगम बर होउँ असोकी।। १/१६३/८

—आपकी प्रसन्नता देखकर मुझे लग रहा है कि क्यों न आपसे दुर्लभ वर माँगकर शोकरहित हो जाऊँ।"

यदि लोभी अपने को लोभी के रूप में देखे, तो लोभ-रोग दूर हो सकता है। पर यदि वह यह दिखाने की चेष्टा करे कि नहीं, हमारी कोई इच्छा नहीं है, तो कहना पड़ेगा कि इच्छा के साथ दम्भ मिल गया और रोग असाध्य हो गया। प्रतापभानु के साथ ऐसा ही होता है। वह अपनी माँग रखते हुए कहता है—

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ।।१/१६४

—"महाराज, हम कभी बूढ़े न हों, कभी मरें न, युद्ध में हमें कोई जीत न पावे। हम सौ कल्प तक एकछत्र राज्य करें।" इसका तात्पर्य यह कि सारे संसार का राज्य मिल जाना कोई विशेष बात नहीं हुई, ब्रह्माण्ड का राज्य मिलना चाहिए। कुछ समय के लिए राज्य मिले तो क्या मिला, अनन्तकाल तक हमें यह भोग

मिलता रहे। यही लोभ की उत्कटता है। कपटमुनि तो केवल अपना खोया हुआ राज्य वापस चाहता था, पर प्रतापभानु चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी सन्तुष्ट नहीं था। उसकी माँग से उसके अन्त:करण में भरी लोभ की उद्दाम वृत्ति उजागर होती है।

लोभ के लिए गोस्वामीजी ने जो 'अपारा' विशेषण लगाया, उसका एक विशिष्ट तात्पर्य है। काम और क्रोध इन दोनों दुर्गुणों का सम्बन्ध क्रमशः वर्तमान और भूतकाल से होता है। काम का स्वभाव है वर्तमान-वादी। वर्तमान में कोई आकर्षण हुआ और अन्त:करण में काम का संचार हो गया। पर क्रोध कब आता है? कोई बात हो गयी तो क्रोध आता है कि ऐसा क्यों हुआ। अतएव क्रोध भूतवादी है। पर यह जो लोभ है, वह भविष्यवादी है। इतना लोभ किसके लिए? बुढ़ापे के लिए। फिर बुढ़ापा ही नहीं, लड़के के लिए; लड़का ही नहीं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए! अब वर्तमान और भूत तो ससीम हैं, पर भविष्य की कोई सीमा बाँधना कठिन है। इसीलिए लोभ को 'अपार' कहा।

तो, प्रतापभानु और कपटमुनि दोनों लोभ की प्रक्रिया में पड़कर एक दूसरे को ठगने की चेष्टा करते हैं। और जब प्रतापभानु में लोभ की प्रक्रिया अतिशयता तक पहुँचती है, तो उसमें राक्षसत्व की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, और वह रावण बन जाता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों की वस्तु छीनकर, अन्यायपूर्वक भी, अपनी आकांक्षा को पूर्ण करना चाहता है। इसीलिए काक-भुशुण्डिजी कहते हैं—'कफ लोभ अपारा'—यह अपार लोभ ही कफ है, जिसकी वृद्धि मनुष्य को रोगी बना देती है। ○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) नहिं राग न रोषू

सिक्ख गुरु अंगददेव के पुत्र दातू ने जब खडूर में गुरु की गद्दी पर अपना अधिकार जमाना चाहा, तो लोगों को उसका यह कृत्य पसन्द न आया और उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि गद्दी पर बैठने का अमरदासजी का ही अधिकार है। इस पर दातू ने कहा, "यह दो कारणों से सम्भव नहीं है—एक तो वे गोइंदवाल में रहते हैं और दूसरे, वे ७३ वर्ष के बूढ़े हैं।" उसने लोगों से प्रश्न किया, "इस हालत में क्या वे गद्दी सँभाल सकेंगे?" लोगों ने दातू को अमरदासजी की योग्यता पर किसी भी प्रकार का सन्देह न करने की सलाह दी और उसे काफी समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु जब उसने उनकी बात अनसुनी कर दी, तो उनमें से कुछ लोग गोइंदवाल पहुँचे और उन्होंने अमरदासजी से सारा हाल कह सुनाया।

दातू ने जब सुना कि लोग अमरदासजी के पास गये हैं, तो उसे उन पर गुस्सा आया और वह भी गोइंदवाल जा पहुँचा। इतना ही नहीं, उसने गुस्से में आकर अमरदासजी के प्रति अपशब्द कहते हुए उन्हें ठोकर मारकर गिरा दिया। सहनशीलता की मूर्ति अमरदासजी सम्हल गये और उन्होंने दातू के पैर पकड़-कर कहा, "आपके चरणों में चोट तो नहीं आयी?" दातू पर उनकी इस विनम्रता का कोई असर न हुआ। इसके विपरीत, वापस जाते समय उसने धमकी दी कि यदि वे खडूर आएँगे, तो उनकी टाँग तोड़ दी जाएगी।

अमरदासजी दूसरे ही दिन अपने जन्म-स्थान

वसरका चले गये और वहीं रहने लगे। मगर लोगों को उनके बिना चैन कहाँ ? वे भी वसरका गये और उन्होंने अमरदासजी से गोइंदवाल चलने का आग्रह किया, पर उन्होंने यह कहकर कि वे स्वयं को गद्दी पर बैठने का पात्र नहीं समझते, चलने से इन्कार कर दिया ।

इस बीच दातू पर डाकुओं ने हमला कर उसकी टाँग तोड़ डाली। इससे उसने महसूस किया कि ऐसा उसके द्वारा अमरदासजी के प्रति किये गये दुर्व्यवहार के कारण हुआ होगा। उसे पश्चात्ताप हुआ और उसने गद्दी पर बैठने का अपना दावा छोड़ दिया। लोगों को पता चला, तो वे साईं बुड्ढा आदि को लेकर पुनः वसरका गये। उन्होंने अमरदासजी से स्पष्ट रूप से कहा कि यदि वे गद्दी पर नहीं बैठेंगे, तो वे वहाँ से नहीं हटेंगे। अमरदासजी को अन्ततः राजी होना पड़ा और उन्हें गद्दी पर बिठाया गया ।

(२) लालच बुरी बलाय

महाराष्ट्र-सन्त जोगा परमानन्द की असीम भगवद्-भक्ति से लोग उनके प्रति आकृष्ट होते और उनमें श्रद्धाभाव जागृत होता। एक बार जब वे कीर्तन में मग्न थे, तो कुछ लोग वहाँ से चुपचाप निकल आये और बाजार जाकर एक कीमती पीत वस्त्र (पीताम्बर) ले आये। जब कीर्तन समाप्त हुआ और आरती हुई, तो उन्होंने दक्षिणा के रूप में वह पीताम्बर उन्हें भेंट किया। किन्तु वीतरागी सन्त भला इतना कीमती उपहार कैसे लेता ? उन्होंने उसे लेने से अस्वीकार कर दिया। मगर लोगों ने उनकी एक न सुनी और उन्होंने सन्त के शरीर पर उसे जबरदस्ती चढ़ा दिया। आरती

के पश्चात् वे जब भजन गाने लगे, तो उनका ध्यान भगवान् की ओर से हटने लगा। वे सोचने लगे कि इससे पहले तो ऐसा कभी नहीं होता था। बात उनके ध्यान में आ गयी कि यह कीमती वस्त्र का ही असर है, जो भगवद्-भक्ति में बाधक बन रहा है। उन्होंने उसे नीचे उतार दिया और वे पुनः भजन में लीन हो गये ।

कीर्तन समाप्त होने पर वे पीताम्बर लेकर घर आये। वे सोने की तैयारी कर रहे थे कि उनका ध्यान पीताम्बर की ओर गया और उन्हें आत्मग्लानि हुई कि उनके शरीर को पीताम्बर का मोह हुआ ही कैसे कि जिससे प्रभु की ओर से उनका ध्यान हटने लगा था। उन्होंने निश्चय किया कि इस लोभी देह को दण्ड दिया ही जाना चाहिए। फिर सोचने लगे कि दण्ड क्या दिया जाए? क्या इसे अग्नि की आँच दी जाए, या पानी में डुबाया जाए, अथवा 'अष्टांग योग साधन' द्वारा प्राय-श्चित्त का सहारा लिया जाए। किन्तु उन्हें इनमें से कोई भी दण्ड पसन्द न आया। इसी चिन्ता में उन्हें रात भर नींद न आयी।

दूसरे दिन प्रातः वे फिर शरीर को दण्ड देने की सोचने लगे कि सामने से एक किसान अपने बैलों के साथ खेतों की ओर जाता दिखाई दिया। मन्न ने उसे बुलाकर बैलों की कीमत पूछी । उसके द्वारा बताने पर उन्होंने उतने रुपये दिये, साथ ही वह पीताम्बर भी सौंप दिया। उससे बैल लेकर उन्होंने स्वयं को हल के समान बाँधा और भगवान् का नाम लेकर बैलों को कोड़े लगाये। इससे बैलों ने जोर से भागना शुरू किया। लोगों ने जब उन्हें बैलों के साथ घसीटते हुए देखा, तो

उन्होंने उन्हें रोकने का प्रयास किया, लेकिन बैल इतने तेज दौड़ रहे थे कि रुक न पाये। किन्तु जिस परम दयालु भगवान् ने गजेन्द्र की आर्तवाणी सुनकर उसकी रक्षा की थी, उनसे अपने इस परम भक्त का यह कष्ट कैसे देखा जाता? वे तत्काल प्रकट हो गये और उन्होंने बैलों को रोककर जोगा को शान्त किया। प्रभु के दर्शन से वे भाव-विभोर हो गये और आँख मूँदकर भगवान् की प्रार्थना करने लगे और इधर दीनदयालु अन्तर्धान हो गये।

(३) मति रामहिं सो, गति रामहिं सो

मुस्लिम सन्त फजील-बिन-अयाज पहले राह चलते लोगों को लूटा करते। बाद में वे डाका डालने लगे और उनकी इतनी धाक जमी कि वे डाकुओं के सरदार भी बन गये। लूटे हुए माल में उन्हें जो पसन्द आता, उसे वे रख लेते और बाकी अपने साथियों में बाँट देते। हालाँकि उनका पेशा डाकूगिरी का था, लेकिन वे नमाज़ नियमित रूप से पढ़ा करते और रोज़ा का खयाल भी रखते। एक स्त्री से उन्हें मोहब्बत भी हो गयी थी। एक रात लूट का हिस्सा लेकर वे जब अपनी प्रेमिका के घर गये, तो उन्हें राह चलते काफिले में से किसी के द्वारा पढ़ी गयी निम्न आयत सुनाई दी—

"क्यों नहीं आया ऐसा वक्त ईमानवालों के लिए कि उनके दिल अल्लाह के खौफ़ से डरें?"

फजील ने जो सुना तो वे उस पर गौर करने लगे और उसने उनके दिल पर तीर का सा वार किया। सोचने लगे—"अफसोस कि बेगुनाहों की लूटमार करके अब तक व्यर्थ ही अपनी जिन्दगी को बरबाद करता रहा। अब जितना होश बाकी है, कम से कम उसे तो

खुदा की राह पर ले चल।" और उस दिन से उन्होंने डाकूगिरी का पेशा छोड़ दिया तथा वे फकीर बन गये।

(४) परोपकाराय नृणां विभूतये

एक दिन कन्फ्यूशियस के पास सम्राट् ने आकर कहा, "राज्य में बेईमानी बढ़ती जा रही है, जहाँ-तहाँ छल-कपट और धोखेबाजी के दर्शन होते हैं। क्या राज्य में ऐसा भी कोई आदमी होगा, जो सदाचारी है और गुणों में देवता से भी महान् है?" कन्फ्यूशियस ने जवाब दिया, "है क्यों नहीं? एक तो स्वयं आप हैं सम्राट्, क्योंकि सत्य को जानने की जिज्ञासावाले व्यक्ति को मैं महान् समझता हूँ।" सम्राट् ने कहा, "आपकी दृष्टि में मैं भले ही महान् होऊँ, मगर मैं ऐसे अन्य महान् आदमी को देखना चाहता हूँ, जो मुझसे भी महान् हो।" कन्फ्यूशियस ने जवाब दिया, "तब तो वह व्यक्ति मैं हूँ।" सम्राट् ने कहा, "मैं आपसे भी महान् आदमी को देखना चाहता हूँ। कृपया मुझे उसके पास ले चलिए।"

कन्फ्यूशियस ने एक क्षण के लिए सम्राट् की ओर देखकर कहा, "सम्राट्, हमें उठकर कहीं जाने की जरूरत नहीं। हमसे महान् सैकड़ों आदमी हमें अपने आसपास ही देखने को मिलेंगे—केवल हमें उनकी ओर उस दृष्टि से देखना होगा। सामने की उस सौ साल की बुढ़िया की ओर ही देखिए, वह क्या कर रही है?" सम्राट् ने उत्तर दिया, "कुदाल से कुआँ खोद रही है।" कुछ क्षण बाद उन्होंने आगे कहा, "मगर उसे इस उम्र में कुआँ खोदने की क्या जरूरत है?" कन्फ्यूशियस ने कहा, "आपने ठीक कहा, मगर जरूरत ही सब कुछ नहीं हुआ करती। जो दूसरों के लिए इस तरह निर्लिप्त

होकर अपना जीवन बलिदान करते हैं, वही वास्तव में महान् हैं और ईश्वरस्वरूप हैं। ऐसे लोग ही जीते-जी जीवन और मरण की समस्त सीमाएँ लाँघकर अमर हो जाते हैं।"

(५) बड़ा हुआ तो क्या हुआ ?

नानपोहनिवासी सन्त त्सुचि एक बार शाङ पर्वतों पर आराम कर रहे थे कि सामने एक अति विशाल वृक्ष दिखाई दिया। उनके मुख से आश्चर्य-मिश्रित उद्‌गार निकल पड़ा कि इतना विशाल भी कोई वृक्ष हो सकता है, जिसकी छाँह में राहगीर अपनी थकान मिटा सकते हों।

"यह किस जाति का वृक्ष होगा?"—त्सुचि सोचने लगे। "निश्चय ही इसकी लकड़ी बहुत उमदा होगी।" जब उन्होंने वृक्ष का निरीक्षण करना शुरू किया तो उन्हें दिखाई दिया कि वृक्ष की शाखाएँ इतनी टेढ़ी-मेढ़ी हैं कि उनमें से एक जहाजी बेड़ा भी बनाया नहीं जा सकता। उसके तने में गाँठें भी इतनी हैं कि उससे तावत के लिए तख्त बनाना भी सम्भव नहीं। जब उन्होंने उसका एक पत्ता तोडकर चखा, तो उनकी जीभ और ओंठ छिल गये। उन्होंने महसूस किया कि पत्तों में ऐसी तेज गन्ध है कि यदि इसे कोई भूल से भी खा ले, तो तीन दिन तक उसकी सुध-बुध जाती रहे। तब वे आप ही आप बोल उठे, "ओह, अब पता चला कि यह वृक्ष इतना विशाल क्यों है? बुद्धिमानों को इससे नसीहत लेनी चाहिए कि यदि वे किसी के काम न आएँ, तो उनके महान् होने का क्या लाभ?"

o

श्री चैतन्य महाप्रभु (२)

स्वामी सारदेशानन्द

(लेखक माता सारदा देवी के शिष्य एवं सेवक रहे हैं। माँ के सम्बन्ध में उनके संस्मरण धारावाहिक रूप से 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। बहुतों के साग्रह अनुरोध पर लेखक की कृपापूर्ण अनुमति से हम हिन्दी पाठकों के लाभार्थ इसे धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक, स्वामी विदेहात्मानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं।—स०)

प्रथम अध्याय

(१)

नवद्वीप

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हिन्दू राजकुल के गौरव महाराज बल्लाल सेन का उदय होने से बंगदेश का राजगौरव चारों ओर दूर-दूर तक फैल गया। आधुनिक बंगाल का अधिकांश भाग तथा बिहार एवं उड़ीसा के कुछ अंश उनके राज्य के अन्तर्गत आते थे। विक्रमपुर के रामपाल नामक स्थान में उनकी राजधानी थी, परन्तु गंगातट पर निवास करने की इच्छा से उन्होंने नवद्वीप में भी राजमहल, मन्त्रणागार, सभा-मण्डप, पार्षदों एवं कर्मचारियों के निवासस्थान, सेनापति एवं सैनिकों की छावनी आदि बनवाकर क्रमशः उसे अपनी द्वितीय वैभवमण्डित राजधानी में परिणत कर लिया था। विक्रमादित्य की नवरत्न-सभा के समान ही विद्योत्साही बल्लाल सेन की राजसभा भी सर्वविद्यासम्पन्न एवं सर्वगुणालंकृत पण्डितमण्डली के समावेश से सुशोभित रहा करती थी। अपने जीवन के अन्तिम काल का अधिकांश समय

उन्होंने नवद्वीप में ही बिताया था। इसके फलस्वरूप देश-विदेश के अनेक विद्वान्, बुद्धिमान् एवं गुणवान् लोग नवद्वीप में आकर निवास करने लगे और इस प्रकार नवद्वीप विद्या-चर्चा का एक केन्द्र बन गया।

बल्लाल सेन के पश्चात् उनके पुत्र लखन सेन सिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद नवद्वीप में ही स्थायी रूप से निवास करने लगे, जिसके फलस्वरूप वह नगरी और भी समृद्ध होकर राजा के नाम पर लखनावती के नाम से प्रसिद्ध हुई। पिता के कृतित्व एवं कीर्ति का अनुसरण करनेवाले पुत्र की सहायता से नवद्वीप का यश-सौरभ चारों ओर व्याप्त हो गया। गुणी-ज्ञानी-पण्डितों का निवास-स्थान नवद्वीप क्रमशः सरस्वती के वरदपीठ के रूप में विख्यात हुआ। दिल्ली के पठान बादशाहों के बारम्बार आक्रमण का प्रतिरोध करते हुए सेनवंश काफी काल तक स्वाधीनता एवं गौरवपूर्वक बंगाल का शासन करता रहा। तदुपरान्त पठान सेनापति बख्तियार खिलजी ने नवद्वीप पर आधिपत्य कर लिया और तब से पठानों ने गौड़नगर में अपनी नवीन राजधानी बनाकर वहाँ का शासन किया।

बंगाल पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् पठान वहीं निवास करने लगे और बंगभूमि को ही स्वदेश मानकर वहाँ की कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य की उन्नति का प्रयास करने लगे। वे नाममात्र के लिए ही दिल्ली-अधीश की अधीनता स्वीकार करते थे और कभी-कभी स्वाधीन भी रहा करते थे। देश का आन्तरिक शासन तथा करसंग्रह आदि कार्य पूर्ववत् हिन्दू जमींदार ही करते रहे। यद्यपि न्याय के लिए पठान बादशाह जगह-

जगह काजियों की नियुक्ति करते थे, पर मन्त्री, सेनापति, नगररक्षक आदि उच्च राजपदों पर वे जाति-धर्म से निरपेक्ष सुयोग्य हिन्दुओं की ही नियुक्ति करते थे। अत: पराधीन होने के बावजूद तत्कालीन हिन्दू-समाज को किसी विशेष सामाजिक आक्रमण या अर्थाभाव की समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। इसलिए नवद्वीप से राजधानी के स्थानान्तरित हो जाने के बाद भी वहाँ की समृद्धि में कोई ह्रास नहीं हुआ, और पहले के समान ही धनिक सज्जनों के संरक्षण में पण्डितगण नवद्वीप में गंगातट पर वास करते हुए शास्त्र-चर्चा एवं अध्ययन-अध्यापन करते रहे। राजगौरव शेष हो जाने पर भी विद्या का गौरव अक्षुण्ण बना रहा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में नवद्वीप बंगाल की विद्या-चर्चा तथा शिक्षा-सभ्यता का प्रमुख केन्द्र था। अन्यान्य प्रदेशों के भी अनेक विद्यार्थी ज्ञानप्राप्ति हेतु नवद्वीप आया करते थे। उन दिनों धन देकर विद्या खरीदने की प्रथा न थी। शिक्षक शिक्षार्थियों से शिक्षा के बदले किसी भी तरह का पारिश्रमिक ग्रहण नहीं करते थे। समाज ही इन विद्यार्थियों का सारा भार स्वीकार करता था। पूजा-पाठ, विवाह, श्राद्ध आदि सामाजिक तथा धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर सभी लोग आचार्य एवं विद्यार्थियों को 'विदाई'* देते थे। इसी से शिक्षक तथा छात्रों का आसानी से सरल सहज जीवन-निर्वाह हो जाता था। गंगातट पर सत्संग करते हुए कालयापन करने के उद्देश्य से नवद्वीप में बहुत से धनिक लोग निवास करते थे; उनके तथा देश के अन्य राजाओं,

* स्वर्ण या रजत मुद्रा, धातु के बर्तन, वस्त्र इत्यादि।

जमींदारों तथा वणिक् परिवारों के दान से नवद्वीप में अनेक सड़कों, घाटों, मन्दिरों, धर्मशालाओं, अन्नसत्रों आदि का निर्माण हुआ था।

इस प्रकार उस अंचल में विद्या-बुद्धि का प्रसार तथा सुख-समृद्धि रहने पर भी सच्चे धर्म के अभाव में वहाँ के लोगों का घोर मानसिक अधःपतन हुआ था। अलौकिक उपायों से जागतिक एवं पारमार्थिक भोगों की प्राप्ति, दैवी बल से विघ्नों को दूर करना, शत्रुनाश करना, येन-केन-प्रकारेण धन-मान तथा यश की प्राप्ति ——इन्हीं सब विचारों एवं कार्यों में वे लोग सदा-सर्वदा डूबे रहते थे। पाण्डित्य, सम्पत्ति, सुन्दर पत्नी और सुपुत्र की प्राप्ति——बस इसी में वे जीवन की सार्थकता मानते थे। जो थोड़ी-बहुत पूजा-उपासना प्रचलित थी भी, उसका भी एकमात्र उद्देश्य सांसारिक भोग पाना ही था। वेद-उपनिषद् आदि मोक्षशास्त्रों पर चर्चा क्रमशः कम हो जाने के फलस्वरूप लोगों के मन में जीव, जगत् तथा ईश्वर के स्वरूप के बारे में विविध प्रकार की विचित्र धारणाओं की सृष्टि हो रही थी। बन्धन से मुक्ति की कोई धारणा न होने के कारण मुमुक्षुत्व का मानो लोप-सा हो गया था और इसके फलस्वरूप वासना के दावानल से लोगों का चित्त दग्ध हो रहा था। 'चैतन्य भागवत' में लिखा है—"मद्य-मांस से यक्ष की पूजा और विविध प्रकार से जीव-हिंसा—— सारे (बंग) देश में यही मत प्रचलित हो गया था।"

समाज के उच्चतर स्तरों में विद्या-चर्चा, शास्त्र-पाठ तथा बाह्य धर्मानुष्ठान का भाव थोड़ा-बहुत परि-लक्षित होने पर भी निम्न स्तरों में तो ऐसा कुछ भी

न था। भगवान् की उपासना तो दूर रही, उन्हें उनके नाम तथा स्वरूप के बारे में भी कुछ जानने-सुनने का अधिकार न था। समाज की समस्त सुविधा से वंचित वे लोग एक ओर धर्महीन तथा दूसरी ओर विद्या, धन, सहायता, सम्पदा से भी विहीन होकर दुर्गति की चरम सीमा तक पहुँच गये थे। चूँकि उच्चवर्ण के अभिजात-गण इन्हें अस्पृश्य मानकर उनसे सर्वदा दूरी बनाये रखते थे, अतः उच्चवर्ग की सहायता से उनकी उन्नति होने की कभी भी आशा न थी।* उस घोर दुर्दिन में इन समस्त पतित लोगों को परित्राण का पथ दिखाने के लिए ही मानो करुणामय भगवान् अवतीर्ण हुए।

इसमें सन्देह नहीं कि बंगाल पर आधिपत्य जमा लेने के बाद वहाँ के राजसिंहासन पर आसीन विदेशी एवं विधर्मी बादशाह एवं नवाबगण वहाँ की आन्तरिक शासन-व्यवस्था तथा सामाजिक विधि-विधानों में कोई खास हस्तक्षेप नहीं करते थे; तथापि उनका धर्म एवं आचार-विचार क्रमशः लोगों को अधिकाधिक प्रभावित करने लगा। स्वधर्मी के प्रति सबकी सहानुभूति स्वाभाविक ही है; अतः कभी राज-अनुग्रह पाने के लिए स्वेच्छया और कभी विपत्ति में पड़कर अनिच्छापूर्वक भी अनेक लोगों ने राजधर्म इसलाम को स्वीकार कर लिया। राजाश्रय की सहायता से मौलवी तथा फकीर बंगदेश में सर्वत्र सुप्रतिष्ठित हो अपने धर्ममत का प्रचार करने लगे। वे लोग सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र नियन्ता करुणामय भगवान् की उपासना में सबके समान अधिकार

*इस अत्याचार-अन्याय के फलस्वरूप वे लोग विधर्मियों का आश्रय ग्रहण करते हुए हिन्दू-समाज को क्षीणकाय किये जा रहे थे।

की घोषणा करते थे, जिसके फलस्वरूप समाज के पतित एवं दलित श्रेणी के लोग उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। दल के दल लोग मुसलमान होने लगे। उन लोगों के प्रचार के द्वारा इसलाम का अपूर्व भ्रातृ-भाव, सामाजिक साम्य, धर्म-कर्म एवं उपासना में सबका समान अधिकार लोगों को आकर्षित करने लगा। हिन्दू धर्म के ऐसे घोर संकटकाल में सनातन धर्म की रक्षा एवं प्रचार के लिए तथा अज्ञानी एवं दीन-दुखियों को मुक्ति का पथ दिखाने के निमित्त शिक्षा-सभ्यता के केन्द्र नवद्वीप में श्री चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हुआ। यदि घोर संकट के उन दिनों में उनका आगमन न होता तो यह कह पाना कठिन है कि आज बंगाल में अपने को हिन्दू कहकर परिचय देनेवाला कोई मिल पाता अथवा नहीं।

(२)

आविर्भाव

ईसवी सन् १४८५ के फाल्गुन मास की होली पूर्णिमा के दिन सन्ध्या को चन्द्रग्रहण लगना प्रारम्भ ही हुआ था, और दल के दल लोग हरिनाम की ध्वनि करते हुए गंगास्नान करने चले जा रहे थे। उसी समय रात्रि के प्रथम प्रहर के एक अति शुभ मुहूर्त में नवद्वीप को आलोकित करते हुए कलि-कुहकान्तकारी श्रीचैतन्य-चन्द्र का उदय हुआ।

चैतन्यदेव के पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का नाम शचीदेवी था। जगन्नाथ मिश्र का जन्म-स्थान श्रीहट्ट जिले के ढाकादक्षिण* नामक ग्राम में था।

* ढाकादक्षिण श्रीहट्ट शहर से १५ मील की पूर्व ओर स्थित है।

वे अपने बाल्यकाल में विद्या अर्जन करने को नवद्वीप आये थे। शिक्षा पूरी हो जाने पर वे नवद्वीप में ही स्थायी रूप से बस गये थे। उनका एक दूसरा नाम 'पुरन्दर' था।

धर्मप्राण जगन्नाथ अत्यन्त सद्‌भावपूर्वक जीवन-यापन करते थे तथा पूजा, सन्ध्या एवं भगवदाराधना में ही समय बिताया करते थे। उनकी सहधर्मिणी शचीदेवी का स्वभाव तथा चाल-चलन भी पूर्णतः पति-देव के ही अनुरूप था। एक के बाद एक कई कन्याओं का जन्म होने के बाद ही देहान्त हो जाने से इस दम्पति को काफी खेद रहा करता था। तदुपरान्त भगवत्कृपा से विश्वरूप का जन्म होने के बाद पुत्रमुख देखकर उनके दुःखपूर्ण परिवार को थोड़ा सुखलाभ हुआ। विश्व-रूप की अंगकान्ति अत्यन्त सुन्दर थी और बाल्यकाल से ही शान्त, शिष्ट तथा बुद्धिमान् होने के कारण वे सबके परम प्रिय हो गये थे।

विश्वरूप जब आठ वर्ष के थे तभी माता-पिता

जगन्नाथ के पिता का नाम उपेन्द्र मिश्र और माता का नाम शोभा देवी था। उपेन्द्र मिश्र के सात पुत्र थे, जिनमें जगन्नाथ चतुर्थ थे। मिश्र वंश के लोग अब भी ढाकादक्षिण ग्राम में निवास करते हैं। उक्त ग्राम में चैतन्य महाप्रभु का एक अत्यन्त प्राचीन विग्रह प्रतिष्ठित है। वहाँ देश-देशान्तर से वहुत से दर्शक आते रहते हैं। ढाकादक्षिण का वर्तमान मन्दिर लगभग २५० वर्ष पूर्व मुर्शिदाबाद के एक दीवान ने बनवाया था। किसी किसी का मत है कि ढाकादक्षिण का विग्रह ही वर्तमान काल में प्राप्त चैतन्यदेव की मूर्तियों में प्राचीनतम आदि-मूर्ति है।

का आनन्दवर्धन करते हुए चैतन्यदेव ने जन्म लिया। नवजात शिशु का रूप-गुण देखकर सभी के सुख की सीमा न रही। शचीदेवी के पिता नीलाम्बर चक्रवर्ती एक बड़े प्रसिद्ध ज्योतिषी थे तथा नवद्वीप में ही निवास करते थे। अपने दौहित्र का जन्मलग्न तथा राशि-नक्षत्र आदि देखकर उनके विस्मय तथा आनन्द की सीमा न रही। प्रकट रूप में वे बोले कि यह जातक साधारण मनुष्य नहीं है। प्रभूत पुण्य के फलस्वरूप एक असामान्य महापुरुष का जन्म हुआ है। परम सुन्दर सदानन्द शिशु स्नेह-यत्न के साथ दिन-दिन बड़ा होने लगा। उज्ज्वल गौरवर्ण शिशु की दैवी मनोहर कान्ति जो भी देखता, देखता ही रह जाता, एक बार देख लेने पर भूल नहीं पाता था। यथासमय उसका नामकरण हुआ। जगन्नाथ ने उसका नाम 'विश्वम्भर' रखा और शची उसे स्नेहपूर्वक 'निमाई'* कहकर पुकारती थीं। इस निमाई नाम से ही बालक नवद्वीप में सुपरिचित हुआ। उसके गौर वर्ण के कारण उसका 'गौरांग' नाम भी हुआ था; और किसी के 'हरिबोल' कहते ही वह आनन्द से उल्लसित हो 'हरिबोल' 'हरिबोल' कहते हुए मनोहारी

---

* जगन्नाथ मिश्र के घर में एक अत्यन्त प्राचीन नीम का वृक्ष था, जिसके नीचे निमाई के लिए प्रसूतिगृह बनाया गया था। इसीलिए उसका 'निमाई' नाम रखा गया। अथवा इस नाम के पीछे यह भी कारण हो सकता है कि नीम का नाम सुनकर उसके कड़वेपन के भय से यम उसे लेने को नहीं आएँगे। जिनके वंश में सन्तानें जीवित नहीं बचतीं, उनमें इसी प्रकार के नामकरण की प्रथा अब भी प्रचलित है।

नृत्य करने लगता था, इस कारण सगे-सम्बन्धी उसे 'गौरहरि' कहकर भी पुकारते थे। 'श्रीकृष्ण चैतन्य भारती' उनके संन्यास आश्रम का नाम था, इसी से उनका संक्षिप्त नाम हुआ 'चैतन्यदेव' और इसी नाम से वे जगद्विख्यात् हैं।

इस स्वस्थ सबल प्रतिभावान् और चंचल बालक को सँभालने में शचीदेवी को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। निमाई जब भी जिस किसी वस्तु के लिए हठ करता, उसे पाये बिना वह चैन नहीं लेने देता था। रोता-पीटता, जमीन पर लोट जाता और कभी कभी तो घर की चीजें भी बिखेर डालता। उसका क्रोध शान्त करने के लिए शचीदेवी को कितनी ही चिरौरी-विनती करनी पड़ती। मीठी बातों से, किसी अन्य चीज का लोभ दिखाकर, स्नेह-दुलार जताकर बड़े कष्टपूर्वक शचीदेवी किसी प्रकार निमाई को शान्त कर पातीं। आयु बढ़ने के साथ ही साथ चंचल बालक का मधुर उपद्रव भी बढ़ता गया, इससे कभी कभी शचीदेवी अधीर हो उठतीं। कभी कभी निमाई माता-पिता की जानकारी के विना ही मन्दिर में प्रविष्ट होकर भगवान् की फूलमाला अपने ही गले में डालकर माँ को पुकारकर हँसते हुए दिखाने लगता। देखकर शचीदेवी का हृदय भय से सिहर उठता था। वे पुत्र को खींचकर गोद में उठा लेतीं और भगवान् से बारम्बार क्षमा माँगते हुए पूजा-भोग की मन्नत करतीं।

एक दिन घर में एक संन्यासी अतिथि होकर आये हैं। शचीदेवी ने अतीव भक्तिपूर्वक उनकी सेवा

की सारी व्यवस्था कर दी । वे महात्मा अपने भोजन के पूर्व सजी हुई खाद्यसामग्री अपने सामने रखकर अत्यन्त तन्मय होकर अपने इष्टदेव को भोग दे रहे थे, इसी बीच निमाई चुपके से कमरे में घुस आया और उसमें से खाते हुए तथा साधु के शरीर को धक्का देते हुए कहने लगा, "अजी, आँख खोलकर देखो न, मैं खा रहा हूँ।" निमाई का कण्ठस्वर कर्णगोचर होते ही शचीदेवी दौड़ी आयीं और पुत्र का कृत्य देखकर सिर पर हाथ रखकर 'हाय हाय' करने लगीं । आँखें खोलकर महात्माजी ने सब कुछ देखा, परन्तु उनके हृदय में किसी प्रकार के क्षोभ अथवा दुःख का उद्रेक नहीं हुआ; बल्कि सुन्दर बालक की मनमोहक लीला देखकर वे मुग्ध हो गये और उसके प्रति अतिशय स्नेह प्रदर्शित करने लगे । शचीदेवी ने काफी अनुरोध और विनती करके साधु की सेवा की पुनः व्यवस्था की ।

सुन्दर, स्वस्थ और सबल बालक ने चलना सीखते ही अड़ोस-पड़ोस के घरों में आना-जाना शुरू कर दिया । निमाई को गोद में लेकर हर किसी का हृदय आनन्द से उत्फुल्ल हो उठता, अतः बहुत से लोग स्नेहपूर्वक उसे सुन्दर खिलौने तथा खाने की अच्छी अच्छी चीजें देकर उसे अपने घर बुला ले जाते थे । क्रीड़ाप्रिय बालक कभी कभी स्वेच्छापूर्वक भी पड़ोसियों के घर जा पहुँचता और तरह तरह के हठ करने लगता; फिर अपनी मनोवांछा पूर्ण न होने पर अपनी माता के समान ही उन लोगों को भी परेशान कर डालता ।

एक दिन सन्ध्या के पूर्व निमाई अपने मुहल्ले में

घूम रहा था, उसी समय उसे अकेला देखकर उसके मूल्यवान् गहनों के लोभ में एक चोर ने उसे गोद में उठा लिया और उसे मीठी-मीठी बातों में भुलाकर ले चला; वह सोच रहा था कि किसी निर्जन स्थान में ले जाकर अपना कार्य सिद्ध कर लूँगा। निमाई चोर की गोद में चुपचाप बैठा रहा और चोर उपयुक्त स्थान की खोज में गलियों के चक्कर काटता रहा। सन्ध्या आसन्न थी, निमाई को घर में न पाकर उसके माता-पिता और स्वजन सभी अत्यन्त व्यग्र हो उठे और चारों ओर उसे ढूँढ़ते हुए उसका नाम ले-लेकर पुकारने लगे। निमाई को गोद में लिये चोर घूम-फिरकर जगन्नाथ मिश्र के घर के सामने ही आ पहुँचा था। पुकार सुनते ही निमाई चिल्ला उठा और उसके गले की आवाज सुनकर घर के लोग दौड़कर वहाँ आ पहुँचे। चोर ने जल्दी से उसे गोद से उतारा और भागकर रफूचक्कर हो गया।

मुहल्ले के समवयस्क बालकों के प्रति निमाई का बड़ा प्रेम था। दिन भर वह उन लोगों के साथ खेल-कूद में मस्त रहता। एक खेल उसे बड़ा ही प्रिय था, जिसे देखकर वयस्कगण भी चकित रह जाते थे। संगी-साथियों को लेकर वह एक घेरा बना लेता और स्वयं उसके बीच में खड़ा होकर ताली बजाते हुए मधुर स्वर में 'हरिबोल' 'हरिबोल' कहते हुए नृत्य करता, और संगीगण भी आनन्द से पुलकित हो उसे घेरे हुए वैसा ही नृत्य करते। निमाई का यह सुमधुर खेल जो भी देखता, ठगा-सा रह जाता।

निमाई को पाँचवाँ वर्ष लगने पर जगन्नाथ ने

एक शुभ दिन देखकर उसके हाथ में खड़िया देकर विद्यारम्भ कराया। उन दिनों प्राथमिक पाठशाला के शिक्षक महाशय को ओझा* कहने की प्रथा थी। वे बच्चों को बँगला पढ़ना-लिखना, गणित और पत्रादि-लेखन सिखाया करते थे। निमाई सुदर्शन ओझा की पाठशाला में भरती हुआ। अक्षरज्ञान के बाद अत्यल्प काल में ही इस मेधावी बालक ने लिखना सीख लिया है यह देख ओझा के विस्मय की सीमा न रही। जगन्नाथ और शचीदेवी का अन्तर भी आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। निमाई के बड़े भाई विश्वरूप तब टोल में शास्त्र आदि का अध्ययन कर रहे थे। वे भी परम स्नेहपूर्वक अपने अनुज को शिक्षा प्रदान करने लगे। निमाई काफी कम समय में ही अपना पाठ याद कर लेता और बाकी समय सहपाठियों के साथ खेल-कूद और रंग-रस में मस्त रहता। ओझाजी की प्रबल इच्छा थी कि बुद्धिमान् बालक पूरे मनोयोग के साथ पढ़ना-लिखना करें, परन्तु निमाई का स्वभाव इसके पूर्णत: विपरीत था। पढ़ाई-लिखाई की अपेक्षा खेल-कूद में ही उसका मन अधिक लगता था; और पाठशाला के उस अल्प से पाठ को सीखने में उसे कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता था। इस कारण खेल-कूद के लिए उसे पर्याप्त समय मिल जाता था।

शचीदेवी अत्यन्त शुद्ध आचार की महिला थीं। मिश्रकुल के गृहदेवता रघुनाथजी की सेवा-पूजा-भोग आदि में कोई अनियमितता अथवा त्रुटि न हो, इस

---

* यह सस्कृत 'उपाध्याय' शब्द का अपभ्रंश है। (अनु०)

ओर उनका काफी ध्यान रहता था। निर्धन होने के बावजूद मिश्र-दम्पति अत्यन्त भक्तिपूर्वक प्राणपण से रघुनाथजी की सेवा में लगे रहते थे। चतुर निमाई ने अपनी माताजी में शुचि-अशुचि का थोड़ा अधिक भाव देखकर अपने अभीष्ट साधन का एक नया ही उपाय ढूँढ़ निकाला। अपना हठ पूरा न होने पर अथवा किसी अन्य कारणवश माँ से नाराज हो जाने पर वह घूरे पर जाकर बैठा रहता अथवा जूठा या अशुचि पदार्थ छूकर फिर शचीदेवी को स्पर्श करने का भय दिखाता। घर में अतिथि-ब्राह्मण तथा भगवत्सेवा होती है, अतः शचीदेवी भयभीत हो अनुनय-विनय, स्नेह-दुलार तथा माँगी हुई चीज को देने का वादा करके बड़ी मुश्किल से पुत्र को शान्त कर पातीं। पिता की डाँट-डपट से थोड़ा भय खाने पर भी माँ की धमकी का तो निमाई पर जरा सा भी असर नहीं होता था। परन्तु जब अत्यन्त परेशान होकर और दूसरा कोई चारा न देख शचीदेवी अश्रुपात करने लगतीं, तब निमाई का हृदय एकदम पसीज उठता था। माँ की आँखों में आँसू देखते ही वह अधीर हो जाता और शान्त भाव से माँ के गले से चिपटकर उन्हें आनन्दविभोर कर देता।

निमाई की हठवादिता से अनेकों बार पास-पड़ोस के लोग भी परेशान हो उठते। परन्तु मधुरभाषी प्रियदर्शन इस बालक के प्रति सबका सहज स्नेह था, अतः उसकी समस्त उद्दण्डता को वे लोग सानन्द सह लेते थे। उस मुहल्ले में एक हलवाई-परिवार भी निवास करता था। मिठाइयाँ आदि खाने के लिए

निमाई उसके घर खूब आया-जाया करता था। हलवाई-दम्पति उसे भी अपने ही बच्चों के समान मानकर उसे अच्छी अच्छी चीजें खिलाकर परम परि-तोष का बोध करते थे।

मिश्रजी के घर के समीप ही जगदीश और हिरण गोवर्धन नाम के दो ब्राह्मण निवास करते थे। एक दिन उन लोगों ने एकादशी व्रत के उपलक्ष में अपने गृहदेवता को भोग देने के लिए फल-मूल तथा मिष्टान्न की व्यवस्था की थी। निमाई वह देखकर घर लौटा और रो-रोकर उसने आसमान सिर पर उठा लिया। बालक के रुदन से परेशान हो शचीदेवी ने जब कारण पूछा तो निमाई ने कहा कि मुझे उस ब्राह्मण के घर का सजाया हुआ 'ठाकुर का नैवेद्य' चाहिए। शचीदेवी ने यह सुन भीत और चकित हो उसके मुख पर हाथ रख दिया और समझा-बुझाकर उसे शान्त करने का प्रयास करने लगीं कि ऐसा सोचना भी पाप है; परन्तु निमाई भला कहाँ माननेवाला था, वह रोते हुए धूल में लोटने लगा। और कोई उपाय न देख शचीदेवी ने कहा कि वे सारी चीजें मैं तुझे बाजार से मँगवाकर दे दूँगी; परन्तु इस पर भी निमाई सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसे तो बस 'जगदीश पण्डित के घर के ठाकुर का नैवेद्य' ही चाहिए। निमाई के रोने की आवाज सुनकर पास-पड़ोस के अनेक लोग एकत्र हो गये थे। क्रमशः उसके हठ पकड़ने की बात ब्राह्मण के घर तक जा पहुँची। वे लोग नैवेद्य लेकर आये और तब कहीं निमाई सन्तुष्ट हुआ।

बाल्यकाल से ही निमाई सुदृढ़, बलिष्ठ शरीर

तथा कुशाग्र बुद्धि से सम्पन्न था । सुदीर्घ देह, आजानु बाँहें, प्रशस्त सीना, पतली कमर, उज्ज्वल गौर वर्ण, प्रफुल्ल शतदल पद्म के समान मुखमण्डल, प्रेम से छलछलाते दोनों नेत्र—उसका सब कुछ असाधारण था । समवयस्क सहपाठियों की टोली बनाकर उनका 'सरदार' निमाई नवद्वीप के रास्तों, घाटों पर खेलते हुए घूमा करता । बीच बीच में लोग उसके उपद्रव से तंग आ जाते । परन्तु उसके भुवनमोहन रूप तथा मधुर वाणी से सभी मंत्रमुग्ध हो जाते । गंगा का घाट ही उसकी क्रीड़ा का प्रमुख स्थान था । वहाँ वह अपने मित्रों के साथ तैरता, गोते लगाता और पानी में कूद पड़ता । उसकी जलक्रीड़ा के उपद्रव से स्नान को आनेवाले लोग परेशान हो जाते । फिर वयस्क लोगों के मना करने पर उसका उपद्रव और भी बढ़ जाता । यदि कोई अधिक नाराज होकर पकड़ने को आता तो वह भागकर नौ-दो-ग्यारह हो जाता। और यदि कभी पकड़ में आ भी जाता तो अनुनय-विनय करके लोगों को मोहित कर देता । शचीदेवी अपने स्नेह की सम्पदा, अपने नयनों की ज्योति निमाई पर कठोरता नहीं दिखा पातीं, परन्तु जगन्नाथ अपने पुत्र के प्रति पिता का कर्तव्य पूरा करने में पीछे नहीं हटते थे । आवश्यकतानुसार वे बालक पर कठोर नियंत्रण करते, यहाँ तक कि कभी कभी उसे घर में बन्द भी कर देते; परन्तु बुद्धिमान् बालक बड़ी आसानी से मुक्ति पा लेता ।

बाकी सबके समक्ष चंचलता एवं शैतानी करने पर भी विश्वरूप की उपस्थिति में निमाई बिल्कुल

शान्त रहता। भैया के ऊपर निमाई का बड़ा आकर्षण था और वे भी अपने अनुज को प्राण से भी प्रिय मानते थे। विश्वरूप जन्म से ही धीर-स्थिर थे और मनोयोगपूर्वक शास्त्रादि का अध्ययन किया करते थे। टोल में आचार्य के साथ ही उनके दिन का अधिकांश काल बीत जाता था। इसीलिए भाई की ओर विशेष ध्यान देने का उन्हें अवसर ही न मिलता था और जगन्नाथ मिश्र भी कामकाज के निमित्त बहुधा घर के बाहर ही रहते, अतः निमाई को स्वाधीनतापूर्वक खेल-कूद करने की यथेष्ट सुविधा हो जाती।

बाल्यकाल से ही बीच बीच में निमाई की ऐसी एक अस्वाभाविक अवस्था हो जाती कि जब-तब उसकी बाह्यसंज्ञा का लोप हो जाता। उस अवस्था में कभी-कभी उसकी देह की दीप्ति इतनी बढ़ जाती कि उसे देखकर लोग विस्मयविमुग्ध हो जाते। फिर कभी कभी उस अवस्था में वह ऐसे गहन तत्त्वज्ञान की बातें कहने लगता कि लोग अवाक् होकर सुनते रह जाते। उसकी ऐसी अवस्था होने पर माता-पिता अत्यन्त चिन्तित हो जाते और इस विषय में विज्ञ जनों की सलाह माँगते। कोई कहता कि इसे मूर्छा या वायु रोग हो गया है, इसकी चिकित्सा कराओ; कोई दूसरा कहता कि इस पर प्रेत की दृष्टि है, ओझा को बुलाओ; फिर अन्य कोई कहता कि इस पर किसी देवता का आवेश है, ठाकुर-देवता की पूजा-मन्नत करो। इस सबसे जगन्नाथ के विशेष उद्विग्न न होने पर भी शचीदेवी पुत्र के अमंगल की आशंका से त्रस्त हो इन सारे उपदेशों का यथासम्भव

पालन करतीं । कुछ काल बीतने पर जब शचीदेवी ने देखा कि निमाई की बारम्बार वैसी ही अवस्था होने के बावजूद उसकी शारीरिक या मानसिक अवस्था में कोई अवनति नहीं हुई है तथा उसकी स्वाभाविक प्रफुल्लता में भी कोई कमी नहीं आयी है, तब उनके हृदय की चिन्ता धीरे-धीरे कम होने लगी ।

उन्हीं दिनों नवद्वीप के समीप ही शान्तिपुर में कमलाक्ष भट्टाचार्य नाम के एक ज्ञानी ब्राह्मण निवास करते थे । श्रीहट्ट जिला ही उनका भी जन्मस्थान था। श्रीहट्ट उन दिनों अत्यन्त समृद्ध तथा अनेक ब्राह्मण, वैद्य एवं कायस्थ परिवारों का वासस्थान था । श्रीहट्ट के एक राज्य लाउड़ के मुस्लिम शासन के अधीन हो जाने पर वहाँ के अनेक पदाधिकारी तथा विशिष्ट लोग वह स्थान त्यागकर गंगातीर पर आकर रहने लगे । उन्हीं दिनों लाउड़ के राजा के सभापण्डित कमलाक्ष भट्टाचार्य* भी शान्तिपुर में आकर निवास

* लाउड़ राज्य का ध्वंसावशेष तथा अद्वैताचार्य का निवास बंगला संवत् १३०४ (१८९७–९८ ई.) में आये बंगाल के भीषण भूकम्प के पश्चात् मिट्टी के नीचे दबकर जंगल से ढक गया था। कुछ काल पूर्व कुछ सज्जनों के प्रयास से वहाँ जंगल की सफाई करके, प्राचीन स्थान को बाहर निकालकर मन्दिर की स्थापना हुई है । इन समस्त उद्यमी लोगों में स्वनामधन्य कवि मुकुन्ददास भी एक हैं । कुछ वर्षों पूर्व प्रबल बाढ़ के फलस्वरूप उस अचल की बहुत-सी मिट्टी बह जाने के कारण अनेक प्राचीन ध्वंसावशेष बाहर निकल पड़े हैं । अद्वैताचार्य के जन्मस्थान के निकट के नदी-तट पर प्रतिवर्ष वारुणी पर्व के उपलक्ष में एक मेला लगता है ।

करने लगे । महापण्डित, तत्त्वज्ञानी, भगवद्भक्त भट्टाचार्य महाशय आचार्य शंकर के अनुयायी तथा अद्वैत मतावलम्बी थे । शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित दशनामी-सम्प्रदाय के संन्यासी-भक्तों में अग्रणी आचार्य श्रीमत् स्वामी माधवेन्द्र पुरी से दीक्षा लेने के बाद वे परमेश्वर की उपासना तथा ध्यान-भजन में ही कालयापन कर रहे थे । तत्कालीन समाज में भोग-सुखों की प्राप्ति की कामना से विविध देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना का प्रचलन था, परन्तु उन्होंने जगत् के सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता सर्वनियन्ता एक अद्वय भगवत्तत्त्व का प्रचार किया तथा इसका भी कि एकमात्र मोक्षप्राप्ति के लिए ही उनकी उपासना जीव का एकमेव कर्तव्य है। फलस्वरूप वे 'अद्वैताचार्य' के नाम से सुपरिचित हो गये थे । उनकी भक्तिमती पत्नी सीतादेवी ने भी सर्वतोभावेन पति का अनुगमन कर अपनी सहधर्मिणी संज्ञा सार्थक कर दी थी । धर्म की दुरवस्था तथा लोगों के दुःख से व्यथित हो अद्वैताचार्य देश के मंगल हेतु सर्वदा भगवान् से प्रार्थना करते रहते थे । प्रार्थना के समय वे बीच बीच में भावाविष्ट हो जो गम्भीर हुंकार करते, उसे सुनकर ऐसा प्रतीत होता मानो जीव-जगत् के उद्धार हेतु वे भगवान् को प्रेरित कर रहे हों ।

उस समय बहुत से लोग दर्शन तथा स्नान करने को आया करते हैं। कहते हैं कि अद्वैताचार्य ने अपनी वृद्धा माता को वारुणीयोग के अवसर पर गंगास्नान कराने का संकल्प करके अपनी तपस्या के प्रभाव से वहाँ गंगा का प्रादुर्भाव कराया था । इसी कारण अब भी वह स्थान 'पणा तीर्थ' (संकल्प तीर्थ) के नाम से सुपरिचित है ।

अद्वैताचार्य तथा जगन्नाथ मिश्र के बीच बड़ा सौहार्द रहने के कारण शचीदेवी और सीतादेवी के बीच भी बड़ा स्नेहभाव हो गया था। इसी कारण आचार्य-दम्पति का मिश्र के पुत्र विश्वरूप से बड़ा लगाव था और निमाई के जन्म से ही उस पर उनका हार्दिक स्नेह वर्षित हुआ था। मिश्र-परिवार निर्धन था, परन्तु आचार्य की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। आचार्य की पत्नी प्राणप्रिय निमाई को वस्त्र-अलंकार का उपहार देती रहती थी तथा अवसर मिलते ही उसे भलीभाँति खिला-पिला, पहना-सजाकर परम आनन्द की अनुभूति करती थीं। नवद्वीप में भी अद्वैताचार्य का एक मकान था, जहाँ वे बीच बीच में आकर निवास किया करते थे। उन दिनों उस अंचल में प्रकृत ज्ञानी भगवद्भक्त अत्यन्त विरले थे। काफी कम लोग भगवान् का चिन्तन तथा उपासना किया करते थे। नवद्वीप-जैसे स्थान में भी ऐसे सत्-जनों की संख्या अत्यल्प ही थी और वे लोग भी समाज के विषयी अधिपतियों की अश्रद्धा, अवज्ञा तथा अत्याचार के भय से एकान्त में गोपनीयतापूर्वक अपने भाव में डूबे रहते थे। आचार्य अद्वैत के नवद्वीप आने पर उन समस्त भक्तों के प्राण आनन्द से उत्फुल्ल हो उठते थे। वे आचार्य के साथ मिलकर भगवच्चर्चा करते हुए दिन बिताते। उन भक्तों में श्रीवास आचार्य, उनके भ्रातागण तथा मुकुन्द, मुरारी, श्रीधर, पुण्डरीक विद्यानिधि आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

निमाई के बड़े भाई विश्वरूप के स्वभाव तथा विद्या-बुद्धि की हम पहले ही चर्चा कर आये हैं।

विश्वरूप बड़े मनोयोगपूर्वक अध्ययन करते थे और उनके अन्तःकरण में ज्ञान का उद्रेक भी हुआ था। वे पाण्डित्य-लाभ के लिए लालायित न हो, मानव-जीवन की चरम सार्थकता—आत्मज्ञान—की उपलब्धि के लिए अध्यात्म-विद्या के अध्ययन में तत्पर थे। अद्वैत आचार्य जब नवद्वीप में आकर भक्तों के साथ भगवत्-प्रसंग में समय बिताते, उस समय विश्वरूप भी उसमें सम्मिलित होने लगे और उनके इस आकर्षण में क्रमशः अधिकाधिक वृद्धि होते जाने के कारण उनका अधिकांश समय वहीं व्यतीत होने लगा। किसी किसी दिन विश्वरूप के वहाँ से लौटने में अधिक विलम्ब हो जाने पर शचीदेवी उन्हें बुला लाने निमाई को भेजा करतीं। फिर कभी कभी निमाई अपनी इच्छा से भी भैया के साथ अद्वैत के घर जा पहुँचता। निमाई को अपने बीच पा आचार्य एवं भक्तों का हृदय अपने आप ही उल्लसित हो उठता, उनके आनन्द का बाँध टूट जाता। वे अनिमेष नेत्रों से बालक के भावपूर्ण उज्ज्वल मुखमण्डल का अवलोकन कर एक अवर्णनीय सुख में निमग्न हो जाते। ज्ञानी आचार्य विस्मित होकर सोचने लगते कि निमाई को देखते ही उनकी मन की अवस्था ऐसी क्यों हो जाती है! निमाई को क्यों बार बार गोद में उठा लेने की इच्छा होती है, यह बात उनके लिए एक पहेली-सी बन गयी थी। निमाई अपने भैया का हाथ पकड़कर खींचते हुए घर की ओर चल देता और भक्तों के साथ आचार्य टकटकी लगाये उसे पथ पर जाते देखते रहते। जब तक वह दिखता रहता, दृष्टि फिरा

पाना असम्भव था । चतुर बालक भी मानो उनके हृदय की बात समझकर बीच बीच में मुड़कर उनकी ओर देखते हुए हँस देता था ।

निमाई तब आठ वर्ष का था और विश्वरूप सोलहवाँ पार कर चुके थे । जगन्नाथ मिश्र विश्वरूप का विवाह करने के लिए उपयुक्त लड़की की खोज करने लगे । किशोरावस्था पार कर यौवन में पदार्पण करने के साथ ही विश्वरूप के मन में वैराग्य का उदय हुआ । इस अनित्य त्रितापसकुल संसार की असारता का उन्हें पूर्ण बोध हो गया था । उनका मन जगत् के माया-मोह की शृंखला को तोड़कर भगवान् के पादपद्मों में आश्रय लेने को व्याकुल हो उठा था । अतः विवाह की चर्चा सुन वे भयभीत हो गये और संन्यास लेने के लिए एक गहरी रात को माता-पिता तथा सगे-सम्बन्धियों को सदा-सर्वदा के लिए त्यागकर घर से निकल पड़े । बहुत खोज करने पर भी उनका कोई संवाद नहीं मिला ।

गुणवान् सुयोग्य पुत्र को खोकर शोकमग्न होकर भी मिश्र-दम्पति ने अपने दुःख-कष्ट की परवाह न करते हुए प्रभु से प्रार्थना की कि पुत्र को अभीष्ट-लाभ हो । ऐसी कामना कभी भी उनके मन में नहीं आयी कि पुत्र पुनः लौटकर गृहस्थ हो जाय । उनकी महानता देखकर लोग कहते कि जैसे माता-पिता हैं, पुत्र भी वैसा ही निकला । स्नेहमय भैया के चले जाने से निमाई को बड़ा दुःख हुआ, तथा वह शोक-विह्वल माता-पिता को सान्त्वना देते हुए कहता, "भैया संन्यासी हो गये तो क्या हुआ, मैं घर में रहकर

तुम लोगों की सेवा करूँगा । उनके संन्यासी हो जाने से अच्छा ही हुआ, पितृकुल-मातृकुल का उद्धार हो जाएगा ।" इस अल्पवयस्क बालक के मुख से ऐसी ज्ञानगर्भित बातें सुनकर उनके विस्मय की सीमा न रहती । शचीदेवी पुत्र को सीने से लगाकर कलेजा जुड़ा लेतीं । परन्तु जगन्नाथ को लगता कि उनका यह पुत्र भी संसार में नहीं रहेगा ।

विश्वरूप के गृहत्याग के बाद से निमाई के स्वभाव में बड़ा परिवर्तन आ गया । अपनी पहले की चंचलता तथा खेल-कूद को छोड़कर अब वह पढ़ाई-लिखाई में अधिक मनोयोग देने लगा और माता-पिता का अनुगत होकर अब वह अपना अधिकांश समय उन लोगों के साथ घर में ही बिताने लगा । कुछ दिनों बाद ही निमाई के नवम वर्ष में जगन्नाथ ने उसका उपनयन कर दिया और उसे सन्ध्या-उपासना, पूजा-अर्चना आदि ब्राह्मण-धर्म की शिक्षा देने लगे । अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा के द्वारा बालक को अल्प समय में ही सब कुछ भलीभाँति सीखते देख माता-पिता का अन्तःकरण आनन्द से परिपूर्ण हो उठा ।

मेधावी बालक के अत्यन्त मनोयोगपूर्वक अध्ययन आरम्भ करने और अति अल्प अवधि में ही खूब प्रगति कर लेने पर सभी लोग आनन्दित थे, पर जगन्नाथ के मन में प्रबल आशंका घर कर गयी थी । स्नेहकातर वृद्ध पिता सोचने लगे कि पढ़-लिखकर कहीं निमाई भी विश्वरूप के समान ही गृहत्याग कर न चला जाय ! निमाई का मुख देखकर ही वे लोग जीवित थे, अतः उसके संन्यास का पथ अवरुद्ध करने

के लिए, सब लोगों के विरोध पर ध्यान न देते हुए उन्होंने निमाई की पढ़ाई बन्द करा दी । पाठशाला छोड़ने की निमाई की इच्छा नहीं थी । अतः वह इससे बड़ा दुःखी हुआ । निमाई का दुःख देख शचीदेवी को भी बड़ी पीड़ा हुई । अनपढ़ रह जाने पर पुत्र का जीवन बड़े कष्ट में बीतेगा, यह सोच वे बड़ी चिन्तित हुईं ।

गृहत्याग के पूर्व विश्वरूप ने माँ के पास एक पुस्तक रखते हुए कहा था, "निमाई बड़ा होकर इसे पढ़ेगा ।" उस पुस्तक को पढ़कर कहीं निमाई भी संन्यासी न हो जाय इस भय से अब शचीदेवी ने उस पुस्तक को नष्ट कर डाला । अद्वैताचार्य के सम्पर्क में आकर ही विश्वरूप के मन में वैराग्य का संचार हुआ यह सोचकर शचीदेवी का मन आचार्य के प्रति खट्टा हो गया था । बीच बीच में वे आचार्य के बारे में अपना प्रतिकूल मनोभाव व्यक्त कर बैठतीं और निमाई भी उनके सम्पर्क में आकर कहीं संन्यासी न हो जाय, इस भय से वे निमाई को अद्वैत के घर जाने से मना करतीं ।

पाठशाला छोड़ने के पश्चात् पढ़ाई-लिखाई से वंचित हो निमाई पुनः खेल-कूद में मत्त हो गया । दिन पर दिन उसकी चंचलता बढ़ चली । समवयस्क बालकों की टोली बनाकर सड़क, बाजार, रास्ते, घाट पर वह घूमता और खेलता रहता । उसके खेल-कूद के अत्याचार से पास-पड़ोस के लोग परेशान हो उठे । गंगा के घाट पर उसकी जलक्रीड़ा के उत्पात से लोगों का स्नान-आह्निक-पूजा-अर्चना करना कठिन

हो गया। वह घाट का जल गँदला कर देता, किसी के कुछ कहने पर उस पर पानी के छींटे उछालता या फिर डुबकी लगाकर उसके पाँव पकड़कर खींचने लगता, आदि आदि। फिर अपने संगियों को साथ ले वह लोगों की पूजा-अर्चना के समय भी गड़बड़ी मचाता, स्नान-आह्निक का विकृत अनुकरण करते हुए ब्राह्मण-पण्डितों की हँसी उड़ाता. लोगों की पूजा का नैवेद्य चुराकर खा लेता, फिर मौका लगा तो महिलाओं के पास से नैवेद्य छीन भी ले जाता। स्वस्थ एवं सुदृढ़ शरीर के इस बलिष्ठ बालक को लोग आसानी से पकड़ न पाते, वह दौड़कर गायब हो जाता, या फिर तैरकर गंगा पार हो जाता। और यदि कभी किसी के द्वारा संयोगवश पकड़ में आ भी जाता तो चिरौरी-विनती करके मुक्त हो जाता।

यदि कभी लोग परेशान होकर मिश्र-दम्पति से शिकायत करते तो वे लोग विनयपूर्वक पुत्र के लिए क्षमा माँग लेते। इसी प्रकार दिन बीतते गये। शची और जगन्नाथ तरह तरह से पुत्र को समझाते कभी भय भी दिखाते, परन्तु कोई फल नहीं हुआ। निमाई की खेल-कूद तथा चंचलता बढ़ती ही गयी। आखिरकार शचीदेवी तथा सगे-सम्बन्धियों ने मिलकर जगन्नाथ को समझा-बुझाकर निमाई को पाठशाला भेजने के लिए राजी कर लिया। अब वह पहले के समान ही रुचि लेकर पढ़ाई करने लगा, और उसका स्वभाव परिवर्तित हो गया। (क्रमश:)

○

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी अशेषानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के वरिष्ठतम संन्यासियों में से हैं, जो सम्प्रति अमेरिका के पोर्टलैण्ड स्थित वेदान्त सोसायटी के अध्यक्ष हैं। उन्हें माँ सारदा के मन्त्र-शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कई वर्षों तक उन्होंने स्वामी सारदानन्दजी के निजी सेवक के रूप में सेवा की थी। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें ब्रह्मचर्य-दीक्षा मिली। प्रस्तुत संस्मरण Vedanta and the West नामक द्विमासिक पत्रिका तथा Glimpses of a Great Soul नामक पुस्तक से संकलित किया गया है। अनुवादक, स्वामी विदेहात्मानन्द, रामकृष्ण मठ नागपुर के अन्तेवासी हैं।—स०)

४ जुलाई, १९०२ ई. को स्वामी विवेकानन्द का देहावसान हुआ। तदुपरान्त स्वामी ब्रह्मानन्द मठ और मिशन के अध्यक्ष हुए। एक वरिष्ठ स्वामीजी ने उनके बारे में कहा था, "श्रीरामकृष्ण स्वामी विवेकानन्द को सारे जग के लिए लाये थे, और स्वामी ब्रह्मानन्द को स्वयं अपने लिए।" परन्तु संघ में आये हुए हम नवीन साधु-ब्रह्मचारियों को ऐसा लगा कि महाराज* को हमारे लिए भी लाया गया था। उन्हीं से मुझे 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के अनुरूप त्याग का जीवन बिताने की प्रेरणा मिली और उन्हीं से मुझे अन्य अनेक लोगों के समान ही ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा भी मिली।

सन् १९२२ मेरे जीवन का एक स्मरणीय वर्ष

---

* रामकृष्ण संघ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी 'महाराज' के नाम से परिचित हैं।

है । इसी वर्ष श्रीरामकृष्णदेव की जन्मतिथि पर महा-राज ने मुझे ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान की थी । उन दिनों मैं उद्‌बोधन कार्यालय, जिसे 'मायेर बाड़ी' (माताजी का भवन) भी कहते हैं, में महाराज के गुरुभाई स्वामी सारदानन्द के सेवक के रूप में रह रहा था । उनकी अनुमति लेकर मैं कुछ दिन ठहरने के लिए बेलुड़ मठ गया । जब मैं वहाँ पहुँचा तो महाराज स्वामीजी के पुराने कमरे के निकट गंगा की ओर के बरामदे में एक आरामकुर्सी पर बैठे हुए थे । वे निकट बैठे कुछ युवा संन्यासियों तथा मेरे ही समान ब्रह्मचर्य के प्रत्याशी दो युवकों के साथ आराम की मुद्रा में गपशप कर रहे थे । मैंने उन्हें प्रणाम करने के बाद कहा, "महाराज, मैं आपकी कृपा पाने को आया हूँ । यदि आप कृपा करके ठाकुर की तिथिपूजा पर मुझे ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा दें, तो मैं सदा आपका आभार मानूँगा ।"

महाराज क्षण भर मौन रहने के बाद बोले, "हाँ मैं तैयार हूँ, परन्तु एक शर्त है । तुम्हें गुरुदक्षिणा के रूप में १०८) मुझे अग्रिम देना होगा । अन्यथा मैं तुम्हें दीक्षा न दे सकूँगा ।"

सुनकर मैं भौचक्का होकर बोला, "महाराज, मेरे पास तो पैसे नहीं हैं । इतनी बड़ी रकम देना मेरे लिए असम्भव है । यदि आप मुझ पर कृपा न करें तो मेरा जीवन वृथा हो जाएगा ।"

महाराज ने कहा, "तुम्हारी समस्या के लिए मेरे पास एक सुझाव है । स्वामी सारदानन्द के पास उद्‌बोधन में काफी धन है । तुम उनके सेवक हो,

अतः तुम स्वामी सारदानन्द के पास जाकर उन्हें अपने लिए यह रकम अदा करने को कहो।"

मैं अभी वहाँ मौन खड़ा ही था कि महाराज ने एक अन्य प्रत्याशी को बुलाकर कहा, "गोविन्द, तो तुम मिदनापुर से आ रहे हो। तुम्हें मेरे समक्ष उड़ीसा-पद्धति का नृत्य करके दिखाना होगा। यदि तुम इसे ठीक-ठीक कर सके तो तुम्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा मिल जाएगी।" गोविन्द ने बिना किसी संकोच के, हाथों में उपयुक्त हाव-भाव के साथ वह नृत्य करके दिखाया, जिसका हम सबने आनन्द लिया। महाराज उनके प्रदर्शन पर काफी प्रसन्न हुए और खूब हँसे।

मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो उद्‌बोधन लौट आया और सारी घटना काफी गम्भीरतापूर्वक स्वामी सारदानन्द को कह सुनायी। उन्होंने भी गम्भीरता-पूर्वक सिर हिलाते हुए कहा, "तुम पुनः बेलुड़ मठ जाकर महाराज से कहो कि मैं उन्हीं का हूँ और उद्‌बोधन की सारी चीजें भी उन्हीं की हैं। वे जो कुछ भी चाहते हैं, दे दिया जाएगा।"

मैं निश्चिन्त हो तुरन्त बेलुड़ मठ को लौटा और महाराज को प्रणाम कर उन्हें स्वामी सारदानन्द का सन्देश कह सुनाया।

परन्तु मेरे विस्मय और निराशा की सीमा न रही, जब महाराज ने अस्वीकृति में सिर हिलाते हुए कठोर शब्दों में कहा, "ये तो थोथे शब्द मात्र हैं! जब तक मुझे कुछ लिखित रूप में नहीं मिल जाता तब तक मैं कैसे विश्वास करूँ कि वे अपना वादा पूरा करेंगे ही? तुम उनके निजी सचिव हो,

अतः तुम एक वचनपत्र का प्रारूप तैयार करो, उस पर उनके हस्ताक्षर होने पर ही मैं विश्वास करूँगा।"

मैं अशान्त मन के साथ पुनः उद्‌बोधन लौटा। मैं जब वहाँ पहुँचा, उस समय स्वामी सारदानन्द ध्यान में तन्मय थे। मैं बैठकर प्रतीक्षा करने लगा, परन्तु मैं अधीर और चंचल था। ध्यान पूरा होने पर स्वामी सारदानन्दजी ने अपनी आँखें खोलीं और कहा, "ओह! मैंने सोचा था कि तुम्हीं होगे। क्या महाराज तुम्हें दीक्षा देने को सहमत हुए?"

मैंने खेदपूर्वक उन्हें नवीनतम प्रगति से अवगत कराया और उन्होंने भी ध्यानपूर्वक मेरी आपबीती सुनी। फिर बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किये बोले, "ठीक है, मेरे पास उससे भी अच्छा समाधान है। मैं तुम्हारे साथ बेलुड़ मठ चलूँगा।"

अगले दिन हम दोनों बेलुड़ मठ जाकर महाराज के पास उपस्थित हुए। थोड़ी देर बाद स्वामी सारदानन्दजी ने मुझे बाहर जाकर इन्तजार करने का सुझाव दिया। आखिरकार सारदानन्दजी महाराज के कमरे से बाहर आये और पुनः बिना कोई भाव व्यक्त किये मुझसे बोले, "व्यवस्था हो गयी है, और तुम्हें भी अन्य लोगों के साथ ब्रह्मचर्य-दीक्षा मिल जाएगी।"

अब भी, पचास वर्षों से भी अधिक काल बाद, मैं सिर्फ अनुमान ही लगा सकता हूँ कि दोनों गुरुभाई मेरे बारे में क्या बातें करने के बाद अन्तिम निर्णय पर पहुँचे होंगे।

फिर बिना पैसे दिये ही मेरी दीक्षा हो गयी। यह सब उनका मनोविनोद मात्र था। समाधिवान्

महापुरुष विनोदप्रिय हुआ करते हैं, वे भगवान् की दिव्य लीला का अनुसरण किया करते हैं। वे निष्काम होने के कारण लीला का आस्वादन करते हैं, जबकि हम माया में लिप्त होने के कारण सब कुछ सही मानकर कष्ट पाते हैं।

इस प्रकार हँसी में मुझे तंग करने के पश्चात् अब महाराज की उदारता दिखाने की बारी आयी। अनुष्ठान के पूर्व उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हें मलेरिया से तकलीफ हुई थी और तुम्हारा शरीर भी दुर्बल है। अतः तुम्हें ब्रह्मचर्य-दीक्षा के पूर्व भोर में गंगा-स्नान करने की आवश्यकता नहीं है। अपने सिर पर थोड़ा सा गंगाजल छिड़क लेना। फिर, दिन भर तुम्हें उपवासी रहने की भी आवश्यकता नहीं है। ठाकुर की मध्याह्न पूजा हो जाने के पश्चात् मन्दिर के भण्डार में जाकर प्रसादी फल और मिठाइयाँ खा लेना। तुम्हारे लिए इतना ही यथेष्ट होगा।"

फिर महाराज के निर्देशानुसार दीक्षा के मन्त्रों का अर्थ जानने के लिए मैं स्वामी शुद्धानन्द के पास गया। रात बीतने के पूर्व ही हम सब अनुष्ठान के लिए एकत्र हुए। होम की अग्नि प्रज्वलित की गयी और शुद्धानन्दजी ने विधिवत् मन्त्रोच्चारण किये। हमने प्रतिज्ञा-मन्त्रों को दुहराया और श्रीरामकृष्ण के प्रतीकरूपी पवित्र अग्नि में आत्मबलि प्रदान की। अनुष्ठान के पूरे काल में महाराज वहाँ उपस्थित थे। वे अन्तर्मुखी भाव में थे, उनका मुखमण्डल दमक रहा था। अनुष्ठान की समाप्ति पर उन्होंने हम सब को आशीष देते हुए कहा, "ठाकुर तुम्हें ब्रह्मचर्य के

इन व्रतों का पालन करने के लिए सूर्य के समान शुद्ध और तेजस्वी बल प्रदान करें। वे अपनी अहैतुकी कृपा से तुम लोगों को अपने चरणों में सच्चा प्रेम और शुद्ध भक्ति प्रदान करें।"

होम हो जाने के पश्चात् हम लोग अपने गुरुजी को प्रणाम करने आये। महाराज ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपना हाथ हमारे सिरों पर रख दिया। हमने एक ऐसे हाथ का स्पर्श महसूस किया, जो हमें सारे खतरों से बचाता और हमारी रक्षा करता है। उन्होंने हम लोगों को नये नाम दिये, मैं कल्याण-चैतन्य हुआ। मैं इस स्मृति को महाराज की कृपा के चिह्न के रूप में आजीवन संजोये रहूँगा। अपने जीवनकाल में महाराज ने वह अन्तिम बार ब्रह्मचर्य-दीक्षा प्रदान की थी।

इस घटना का मेरे जीवन में काफी महत्त्व था, क्योंकि इसके फलस्वरूप मैं महाराज के घनिष्ठ सम्पर्क में आ सका। जब मैं पहली बार महाराज के पास श्रद्धापूर्वक प्रणाम करने गया था तो मुझमें भय और संकोच का भाव था। महाराज एक महान् गुरु होने के नाते यह जानते थे कि भय और संकोच साधना के पथ में बाधक हैं। स्नेह और आत्मीयता के द्वारा ही दूरियाँ दूर होती हैं तथा घनिष्ठता बढ़ती है। उस दिन के बाद से मैं महाराज के साथ अपने सम्बन्ध में निःसंकोच हो गया तथा प्रातःकाल ध्यान करने के लिए उनके कमरे में जाने लगा। महाराज के मुखमण्डल का दर्शन करना अपने आपमें एक आनन्द था। वे पूर्ण शान्ति में पूर्णतः डूबे रहते थे। उनके सान्निध्य में मन अपने आप

ही शान्त हो जाता और हृदय में शान्ति विराजने लगती। इस प्रसंग में मुझे श्रीरामकृष्णदेव के ये शब्द स्मरण हो आते हैं और सत्य प्रतीत होते हैं—"जिस प्रकार यदि तुम आग के निकट बैठो तो तुम्हें गरमी लगती है, वैसे ही यदि तुम एक अनुभूति-सम्पन्न महात्मा का संग करो तो तुम्हें आध्यात्मिकता और आनन्द की उपलब्धि अवश्यम्भावी है।"

ध्यान के बाद महाराज गंगा की ओर के बरामदे में आकर एक आरामकुर्सी पर बैठा करते थे। उस समय कभी-कभी वहाँ भजन होते तो कभी सच्चर्चा चलती। एक दिन महाराज ने कहा, "व्याकुल हृदय के साथ प्रभु से प्रार्थना करो। उनसे आत्मीयतापूर्वक कहो कि तुम एकमात्र उन्हीं को चाहते हो। उनके अस्तित्व के बारे में सन्देह न करो। जो विनयशील हैं, विनम्र हैं, उन्हें शीघ्र ही उनके दर्शन होते हैं। यदि तुम भक्ति-पूर्वक उनकी ओर बढ़ो तो वे अवश्य ही प्रकट होंगे। यदि तुमसे कोई गल्ती हो गयी हो अथवा काफी दिनों तक उनका विस्मरण हो गया हो, तो इस कारण तुम्हें संकुचित नहीं होना चाहिए। वे करुणाघन हैं, तुम्हारी भूलों की ओर ध्यान नहीं देते। शिशुवत् सरलता के साथ तुम उनके पास जाओ, वे तुम्हें स्वीकार करेंगे। सरल और निष्कपट बनो। बच्चों के समान सरलता तथा विश्वास के बिना कोई उन्हें पा नहीं सकता।"

एक अन्य दिन महाराज ने कर्म पर विशेष बल देते हुए कहा, "सदा स्मरण रहे कि अपने कर्म के द्वारा तुम प्रभु की सेवा कर रहे हो। भक्ति के नेत्रों से उनके दर्शन होते हैं। यदि लोगों को प्रसन्न करने के लिए

तुम कर्म करो, तो तुम्हें निराश होना पड़ेगा। प्रभु के स्मरण में ही सुख और शान्ति निहित है। उनके सन्तुष्ट होने पर सारा जगत् सन्तुष्ट होता है। अनुकूल हो या प्रतिकूल, सभी परिस्थितियों में ऐसा महसूस करो कि उन्हें छोड़ तुम्हारा कोई भी अपना नहीं है और यह कि तुम अपने कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन कर उनकी सेवा कर रहे हो।"

महाराज में बच्चों की सरलता और ब्रह्मज्ञ के ज्ञान का अद्भुत मेल था। एक दिन उन्होंने बलराम बोस के परिवार के बच्चों को डराने के लिए बाघ का मुखौटा पहन लिया था। पहले डरकर चिल्ला उठने के पश्चात् बच्चों में से एक कह उठा, "अरे, ये तो महाराज हैं। आप मुझे नहीं डरा सकते!" तब महाराज ने मुखौटा उतारकर बच्चों को गोद में उठाया और उन्हें मिश्री के टुकड़े दिये, जो उनके आदेश पर मैं ले आया था। फिर दूसरे ही क्षण महाराज इतने गहन ध्यान में डूब गये कि मैं जिस प्रश्न को लिये उनके पास आया था, वह पूछ नहीं सका। वे इतने गम्भीर दीख रहे थे कि मुझे मुख खोलने का साहस ही न हुआ। मैं थोड़ी देर चुपचाप बैठा रहा और फिर मन ही मन प्रणाम करके लौट आया।

हमें तो महाराज की महानता के सौवें अंश की भी अनुभूति न हो सकी थी। उनके गुरुभाईगण ही उन्हें ठीक ठीक समझ सके थे। स्वामी सारदानन्दजी कहा करते थे, "महाराज और ठाकुर में कोई पार्थक्य नहीं है।" महाराज ने अपने मठाध्यक्ष पद की शक्ति के द्वारा नहीं, वरन् अपने प्रेम की सम्मोहन-शक्ति के द्वारा हम पर शासन किया था। ○

ध्यानयोग की प्रणाली

स्वामी आत्मानन्द

(गीताध्याय ६, श्लोक १०-१७)

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।।६/१०।।

यतचित्तात्मा (मन और देहेन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त) निराशीः (आशा-आकांक्षा से मुक्त) अपरिग्रहः (संग्रहरहित) योगी (योगी) रहसि (एकान्त स्थान में) एकाकी (अकेला) स्थितः (रहकर) आत्मानं (चित्त को) सततं (निरन्तर) युञ्जीत ([परमात्मा में] लगावे) ।

"(जिसने) अपने मन, देह और इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त (कर लिया है), (जो) आशा-आकांक्षा से सर्वथा मुक्त (है तथा) संग्रह-रहित (है, ऐसा) योगी एकान्त स्थान में अकेला रहकर (अपने) चित्त को निरन्तर (परमात्मा में) स्थापित (करने की चेष्टा) करे ।"

पूर्वश्लोक में समबुद्धि रखनेवाले की प्रशंसा की गयी। अब प्रस्तुत तथा आगे के श्लोकों में समबुद्धि प्राप्त करने का उपाय प्रदर्शित किया जा रहा है। विषमबुद्धि चंचल होती है, तरल होती है, इधर-उधर फैलती रहती है। जब बुद्धि स्थिर होकर जम जाती है, तो उसे 'समबुद्धि' का नाम देते हैं। दूध तरल होता है, सावधानी से न रखा जाय तो बिखर जाता है। पात्र के हिलने-डुलने से वह भी हिलता-डुलता रहता है । पर यदि उसमें जामन डालकर उसे जमा दिया जाय, तो वह जमकर दही बन जाता है। तब वह नहीं

बिखरता, पात्र के हिलने-डुलने का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पर दूध से दही प्राप्त करने के लिए दूध में जामन डालकर उसे एकान्त में रखना पड़ता है, जिससे पात्र को कोई बार-बार हिला न दे। इस प्रकार, दही जमाने के लिए तीन बातें आवश्यक हुईं—(१) जामन, (२) एकान्त स्थान और (३) पात्र की स्थिरता। ऐसे ही चंचल मन को स्थिर करने के लिए, उसे जमाने के लिए भी ये तीन बातें आवश्यक हैं। यहाँ पर जामन है परमात्मा का ध्यान ('योगी युञ्जीत सततमात्मानम्'), एकान्त स्थान 'रहसि स्थितः' से सूचित होता है तथा पात्र की स्थिरता 'एकाकी यतचित्तात्मा निराशी-रपरिग्रहः' के द्वारा सूचित होती है।

योगी के लिए पाँच विशेषण लगाये हैं—'यत-चित्तात्मा', 'निराशीः', 'अपरिग्रहः', 'एकाकी' और 'रहसि स्थितः'। 'यतचित्तात्मा' उसे कहते हैं, जिसने अपने मन, देह और इन्द्रियों को जीत लिया है। प्रश्न उठता है कि जिसने अपने मन आदि पर नियंत्रण पा ही लिया, उसे फिर यह सब साधन अपनाने की क्या आवश्यकता है? आखिर सब साधनों की परिणति, उनका उद्देश्य यही तो है कि मन वश में आ जाय। तो, इसका समाधान यह दिया जाता है कि 'यतचित्तात्मा' कहकर एकदम यह नहीं सूचित किया गया कि योगी ने मन और देहेन्द्रियों को पूरी तरह से जीत लिया है; अपितु उससे यह दर्शाया है कि योगी ने एकान्त में साधना करने की कुछ पात्रता अर्जित कर ली है। जब तक व्यक्ति कुछ मात्रा में देह-मन-इन्द्रियों पर अधिकार नहीं कर लेता, तब तक वह एकान्त में अकेला रहकर

साधना नहीं कर सकता।

तब मैं उत्तरकाशी के पास गंगाजी के तीर पर एक गुफा में रह रहा था। एक दिन भिक्षा लेते समय एक ब्रह्मचारी ने मुझे नमस्कार किया। मैं उसे नहीं पहचानता था, उस दिन पहली ही बार उसे देखा था। उससे परिचय पूछा। मालूम पड़ा कि वह नया आया है। घर में कुछ कलह का वातावरण बना तो काशी चला गया। वहाँ किसी अखाड़े में ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली और कुछ समय वहाँ बिताकर एकान्त में साधना की दृष्टि से यहाँ आया है। उसे उत्तरकाशी आने पर दूसरों से पता चला कि मैं एक एकान्त स्थान पर रह-कर साधना कर रहा हूँ। उसने मेरे पास आने की इच्छा व्यक्त की। मैंने अनुमति दी। वह आया। वहाँ का सुन्दर एकान्त वातावरण उसे बहुत भाया और उसने मुझसे पूछा कि क्या उसके लिए भी पास में रहने की व्यवस्था हो सकेगी। मैंने उसे पास ही में एक खाली पड़ी गुफा दिखा दी। उसे बहुत प्रसन्नता हुई और उसने कहा, "मैं आज ही यहाँ आ जाऊँगा।" मैंने एक शर्त रखी——"तुम खुशी से आओ, पर मेरा समय जाया न करना। जब भिक्षा लेने जाएँगे, तब साथ चल सकते हो और उस समय जो बातचीत करनी हो कर सकते हो।"

गुफा साफ कर ली गयी और वह उसमें रहने आ गया। ७-८ दिन तो उसके बड़े अच्छे बीते, पर उसके बाद उसकी चंचलता बढ़ने लगी। भिक्षा के लिए जाते समय उसने बताया कि उसका मन अब अत्यन्त चंचल हो उठा है, मन में बड़े बुरे-बुरे विचार उठते हैं,

एकाकीपन अब चुभने लगा है, जप-ध्यान में मन नहीं बैठ रहा है, उल्टे जप-ध्यान के लिए बैठते ही मन में वासना की प्रबल आँधी उठने लगती है, मन स्वाध्याय में भी नहीं बैठता। मैंने उसे उत्तरकाशी आकर एक आश्रम में रहने की सलाह दी, जहाँ और भी १०-१२ महात्मा रहते थे। उससे कहा कि सद्वृत्तिसम्पन्न साधकों के साथ रहो, इससे तुम्हें सहायता मिलेगी। कुछ समय पश्चात् उसका मन 'नार्मल' हो गया और उसके साधन-भजन का क्रम भी ठीक चलने लगा।

इस घटना का उल्लेख करके हमने यह ध्वनित करने की चेष्टा की है कि जब तक हमने किसी सीमा तक अपने मन, देह और इन्द्रियों को नहीं जीता है, तब तक एकान्त और अकेलापन हमारे लिए सहायक न होकर हमारी चंचलता को बढ़ानेवाला ही सिद्ध होता है। हमें 'यतचित्तात्मा' को इसी अर्थ में लेना चाहिए।

योगी का दूसरा विशेषण है 'निराशीः'। इसका अर्थ 'निराश' नहीं किया जाना चाहिए, अपितु आशा-आकांक्षा से मुक्त के अर्थ में इसका ग्रहण करना चाहिए। प्रश्न उठता है कि जब योगी अकेला एकान्त में साधना करने चला गया, तो वह दुनियादारी की सब चाह मिटाकर ही तो गया, अन्यथा अरण्य की निभृत गिरि-गुफा में वह क्यों जाएगा? और जब यह निश्चय वह 'स्वान्तःसुखाय' लेता है, तब उसमें आशा रखने की क्या बात हो सकती है, जो 'निराशीः' कहकर उसे सचेत किया गया है? इसका उत्तर यह है कि उसमें सिद्धाई की ऐसी सूक्ष्म लालसा बनी रह सकती है कि साधना से उसे कुछ सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँ, जिससे वह दूसरों

पर अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सके। हो सकता है कि वह किसी ऐसी ही सूक्ष्म चाह से परिचालित हो एकान्त में साधना करने गया हो। इसलिए योगी को सावधान किया जा रहा है कि तुम्हारे मन में किसी भी प्रकार की आशा-आकांक्षा न रहे, और अगर रहे भी तो केवल परमात्मा से युक्त हो जाने की आकांक्षा ही रहे।

योगी को तीसरा विशेषण 'अपरिग्रहः' का लगाया। वह साथ में कुछ भी संचित करके न रखे। कतिपय टीकाकारों ने तो यहाँ तक लिख दिया कि कागज-कलम का भी संग्रह न करे, अन्यथा उसमें कुछ लिखने की लालसा पैदा हो जाएगी और उससे उसकी साधना में बाधा पड़ेगी। यह सही है कि लिखने की चाह भी मन में विक्षेप पैदा करती है। किसी टीकाकार ने यह कहा कि साधक को पुस्तकें भी नहीं रखनी चाहिए। यदि पुस्तक का तात्पर्य शास्त्रग्रन्थ किया जाय तो यह कुछ ज्यादती मालूम हो सकती है। यह ठीक है कि साधना से असम्बद्ध आलतू-फालतू पुस्तकों का संग्रह नहीं करना चाहिए, पर उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र और वेदान्त ग्रन्थ ऐसे हैं, जो साधना में सहायक हो सकते हैं। किन्तु हाँ, पुराण-ग्रन्थों तथा वेदान्त पर लिखी गयी ऐसी पुस्तकों का संग्रह उचित न होगा, जिनमें लौकिक कथा-आख्यायिकाओं के माध्यम से तत्त्व को समझाने का प्रयास किया गया है। कारण यह है कि ये कहानियाँ बड़ी अजीबोगरीब होती हैं और साधक के मन को साधने के बदले चंचल ही अधिक कर देती हैं।

उत्तरकाशी में हम कुछ लोग एक विद्वान् महात्मा के पास वेदान्त पढ़ने के लिए जाते थे। हममें से एक

ने किसी प्रसंगवश कहा कि 'चन्द्रकान्त' नामक एक अच्छा वेदान्त-ग्रन्थ श्री इच्छाराम देसाई ने लिखा है, जिसमें कथाओं के माध्यम से वेदान्त के गूढ़ तत्त्वों को समझाने की चेष्टा की गयी है। महात्माजी बोले, "उस ग्रन्थ को तुम लोग अभी मत पढ़ो, पुराण आदि को भी नहीं।" उस साधक ने कारण पूछा। महात्माजी बोले, "देखो भागवत में भगवान् के मोहिनीरूप पर शिवजी के आसक्त होने की कथा है। उनकी पत्नी पार्वतीजी साथ ही हैं, पर मोहिनी को देखकर शिवजी इतने कामासक्त हुए कि वे लज्जा छोड़कर मोहिनी के पीछे भागे और उनका वीर्य स्खलित हो गया। अब इस कथा से तुम लोग क्या सीखोगे? इसमें सन्देह नहीं कि भागवत एक अपूर्व ग्रन्थ है, पर उसकी इस प्रकार की कथाएँ तुम लोगों के मन में उदात्त विचार भरने के बदले वासना का ही अधिक संचार करेंगी। अतः ऐसी कथा-कहानियों से तुम लोग फिलहाल बचना।"

इस दृष्टि से देखें तो 'अपरिग्रह' की भावना समझ में आती है। कई साधक अपनी कुटिया में स्टोव, चाय, काफी, बिस्कुट आदि संग्रह करके रखते हैं। ये सारी बातें उनके मन को ध्यान के विषय में बैठने नहीं देतीं। इसलिए योगी के लिए परिग्रह वर्जित किया गया है।

योगी के चौथे और पाँचवें विशेषण का तात्पर्य यह है कि ऐसा योगी एकान्त में चला जाय और अकेले रहकर साधना करे। 'एकान्त' कहकर यह दर्शाया कि दर्शकों और मिलनेवालों से वह बच जाएगा, अन्यथा उसकी साधना में बाधा पड़ेगी। गाँव-कस्बे के पास रहने से ख्याति सुनकर लोगों का आना-जाना बढ़ जाता

है, इसलिए ऐसे स्थान का चुनाव करना चाहिए, जहाँ यह बाधा नहीं रहेगी। 'अकेला' कहकर यह सूचित किया कि साथ में किसी को नहीं रखना चाहिए। इसका एक कारण तो यह है कि दो मन कभी एक-समान नहीं होते, अतः मतभेद हो जाने की आशंका बनी रहती है, जिसके फलस्वरूप विक्षेप सम्भव है। और दूसरा कारण यह है कि अन्य कोई साथ रहने से साधक पूरी तरह भगवान् पर निर्भरशील नहीं हो पाता, उसके मन में अपने संगी पर निर्भरशीलता की वृत्ति पैदा हो जाती है।

इन विशेषणों और सावधानियों से युक्त साधक को एकान्त में रहकर क्या करना चाहिए?—उसे निरन्तर अपने चित्त को परमात्मा में लगाने की चेष्टा करनी चाहिए। पर मन को लगाने से ही तो वह परमात्मा में लग नहीं जाता, वह तो ध्यान के विषय से भाग जाता है। ऐसी दशा में मन को 'निरन्तर' परमात्मा में लगाने का निर्देश कहाँ तक सार्थक है? इसके उत्तर में साधना की, ध्यान की प्रणाली हमारे समक्ष अगले श्लोकों में रखी जा रही है। आगे के २४, २५ और २६ इन तीन श्लोकों में मन को परमात्मा में लगाने की विधि प्रदर्शित की गयी है, जिस पर विस्तार से चर्चा आगे चलकर करेंगे।

कुछ टीकाकार यहाँ पर आये 'योगी' शब्द का अर्थ 'संन्यासी' लेते हैं, जैसा कि शंकराचार्य ने किया है—'रहसि स्थित एकाकी च इति विशेषणात् संन्यासं कृत्वा इत्यर्थः'—"'एकान्त स्थान में स्थित हुआ' और 'अकेला' इन विशेषणों से यह अर्थ ध्वनित होता है कि

संन्यास ग्रहण करके योग का साधन करे।" किन्तु रामानुजाचार्य और तिलक आदि ने 'योगी' शब्द से कर्मयोगी को ही लिया है। हमारी दृष्टि में ये दोनों ही अर्थ लिये जा सकते हैं। श्रीरामकृष्णदेव गृहस्थ भक्तों को भी बीच-बीच में एकान्त और निर्जन में जाकर साधना करने का निर्देश देते थे। यहाँ पर 'योगी' शब्द से 'साधक' ही ध्वनित हुआ है, 'सिद्ध' नहीं। तो, चाहे वह गृहस्थ हो या संन्यासी, प्रस्तुत प्रकरण में आया 'योगी' शब्द ध्यानयोग के साधक की ही अभिव्यंजना करता है। गृहस्थ और संन्यासी दोनों समान रूप से ध्यानयोग की साधना कर सकते हैं।

अब उस प्रणाली का वर्णन करते हुए कहते हैं--

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।६/११।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।६/१२।।

शुचौ (शुद्ध) देशे (भूमि में) चैलाजिनकुशोत्तरम (कुशा, मृग-चर्म और वस्त्र को एक के ऊपर एक बिछाकर) आत्मनः (अपने) आसनं (आसन को) न (न) अत्युच्छ्रितं (अत्यन्त ऊँचा) न (न) अतिनीचं (अत्यन्त नीचा) स्थिरं (अविचल रूप से) प्रतिष्ठाप्य (स्थापित करके) तत्र (उस) आसने (आसन पर) उपविश्य (बैठकर) यतचित्तेन्द्रियक्रियः (चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं का नियमन करते हुए) मनः (मन को) एकाग्रं (एकाग्र) कृत्वा (करके) आत्मविशुद्धये (अन्तःकरण की शुद्धि के लिए) योगं (योग का) युञ्ज्यात् (अभ्यास करे)।

"शुद्ध भूमि में क्रमशः कुशा, मृग-छाला और वस्त्र को (एक

के ऊपर एक) बिछाकर, अपने (ऐसे) आसन को न (तो) बहुत ऊपर (और) न बहुत नीचे अविचल रूप से स्थापित करके, उस आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं का नियमन करते हुए, मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।"

उपर्युक्त दो श्लोकों में ध्यानयोग की प्रणाली का पूर्वार्ध सूचित हुआ है और उसका उत्तरार्ध श्लोक १३ एवं १४ में। ११ वें श्लोक में आसन के सम्बन्ध में निर्देश हैं और १२ वें में यह बताया है कि हम आसन पर बैठकर क्या करें। पाँचवें अध्याय के २७ वें और २८ वें श्लोकों में जिस ध्यानयोग की अवतारणा की गयी है, उसी का विस्तार अब इन श्लोकों में कर रहे हैं।

आसन के सम्बन्ध में ५ बातें बतायी गयीं — (१) आसन अपना हो, (२) वह शुद्ध भूमि पर हो, (३) वह स्थिर हो, हिलता-डुलता न हो, (४) वह न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा और (५) कुशा, मृग-चर्म तथा वस्त्र को एक के ऊपर एक बिछाकर बनाया गया हो।

ध्यानाभ्यास या साधना के लिए हमें अपना ही आसन उपयोग में लाना चाहिए। जिस कारण से हम दूसरों का वस्त्र नहीं पहनते, उसी कारण से हमें दूसरों के आसन का व्यवहार नहीं करना चाहिए; बल्कि साधना के क्षेत्र में यह कारण और भी बली हो जाता है। दूसरे के वस्त्र उसके संस्कारों का भी स्पन्दन अपने साथ ले आते हैं। यही सत्य आसन के सम्बन्ध में भी लागू होता है।

शुद्ध भूमि का तात्पर्य है ऐसा स्थान, जो विष्ठा या कचरे आदि से गन्दा न हो। यदि परिवेश अस्वा-

स्थ्यकर है, उसमें गन्दगी और मैलापन है, दुर्गन्ध आदि से भरा है, तो मन ऐसी जगह में बैठ नहीं पाता। स्थान ऐसा हो कि वहाँ जाते ही मन प्रफुल्लित हो जाय। मन के एकाग्र होने के लिए स्थान की अनुकूलता बड़ा महत्त्व रखती है।

आसन को स्थिर होना चाहिए, उसे हिलना-डुलना नहीं चाहिए। चारपाई या पलंग पर बैठकर ध्यान नहीं साधा जा सकता, क्योंकि वह आसन स्थिर नहीं होता। ढलान में आसन नहीं बिछाना चाहिए, क्योंकि ढुलकने का भय रहता है।

आसन यदि बहुत ऊँचे स्थान में लगाया जाय, तो नींद के झोंके में गिरकर चोट खाने की सम्भावना बनी रहती है। यदि नीची जगह में लगाया जाय, तो कीड़े-मकोड़ों और रेंगनेवाले जन्तुओं से बाधा का भय रहता है।

कुशा, मृग-चर्म और वस्त्र का आसन नरम होता है, वह अधिक देर तक बैठे रहने में सहायता करता है। कड़ा आसन पैरों के लिए पीड़ादायी हो सकता है। सबसे नीचे कुशा बिछाने का तात्पर्य यह है कि वह छोटी-छोटी कंकड़ियों की चुभन से रक्षा करती है। फिर उसके ऊपर मृग-चर्म डाल देने से कुश का नुकीलापन चुभन नहीं दे पाता है। दूसरे, कुशा पर मृग-चर्म बिछाने से मृग-चर्म शीघ्र खराब नहीं होता है, उसकी आयु बढ़ जाती है। कुशा और मृग-चर्म मिलकर धरती के गीलेपन और ठण्डक से साधक की रक्षा करते हैं। सबसे ऊपर वस्त्र डाल देने से आसन और भी मुलायम हो जाता है तथा मृग-चर्म के रोएँ शरीर में नहीं गड़ते।

१२ वें श्लोक में बतला रहे हैं कि आसन पर

बैठकर क्या करना चाहिए । सर्वप्रथम अपने मन और इन्द्रियों की क्रियाओं का नियमन करना चाहिए (यतचित्तेन्द्रियक्रियः)। स्वाभाविक ही मन और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर बाहर दौड़ती हैं. उन्हें बाहर जाने से रोकना चाहिए। इस प्रक्रिया को अष्टांग-योगसाधन में 'प्रत्याहार' कहते हैं। इस प्रकार चित्त-वृत्तियों को रोककर परमात्मा में केन्द्रित करना चाहिए । इसे 'धारणा' कहा जाता है। इसी को मन को एकाग्र करना भी कहते हैं। इस प्रक्रिया को बारम्बार दुहराना 'योग का अभ्यास' कहलाता है।

यहाँ ध्यानयोग की प्रक्रिया में परमात्मा में मन को लगाने के अभ्यास की जो बात कही गयी है, वह भक्तिपरक भी है और ज्ञानपरक भी । भक्ति की प्रणाली में परमात्मा के सगुण-साकार 'रूप' का चिन्तन किया जाता है, अवतारी पुरुषों, महात्माओं या गुरु के 'रूप' का ध्यान किया जाता है, जबकि ज्ञान की प्रणाली में सगुण-निराकार या निर्गुण-निराकार परमात्मा के 'स्वरूप' में मन को समाहित किया जाता है। इसे 'ध्यान' कहते हैं ।

यह सब किसके लिए किया जाता है?—'आत्म-विशुद्धये'—अन्तःकरण की शुद्धि के लिए । ध्यानयोग के अभ्यास का लक्ष्य सिद्धि या चमत्कार की शक्ति प्राप्त करना नहीं है; दुनिया में धन, यश या प्रतिष्ठा प्राप्त करना भी नहीं है, उसका उद्देश्य है मन के मल को साफ करना। अन्तःकरण का मल ही परमात्मा के साक्षात्कार में बाधक होता है । मल, विक्षेप और आवरण के त्रिदोष ही हमारी आत्मस्वरूपता को ढके हुए हैं।

ध्यानयोग का अभ्यास इस त्रिदोष की सफाई करता है ।

अब अगले दो श्लोकों में ध्यानयोग की प्रणाली का उत्तरार्ध हमारे समक्ष रखते हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।६/१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।६/१४।।

कायशिरोग्रीवं (काया, सिर और गर्दन को) समं (समान, सीधा) च (और) अचलं (निश्चल) धारयन् (रखकर) स्थिरः (स्थिर भाव से) स्वं (अपने) नासिकाग्रं (नासिकाग्र को) संप्रेक्ष्य (अच्छी तरह देखते हुए) दिशः (अन्य दिशाओं को) अनवलोकयन् (नहीं देखते हुए) ब्रह्मचारिव्रते (ब्रह्मचर्य के व्रत में) स्थितः (स्थित हो) प्रशान्तात्मा (प्रशान्त अन्तःकरण-वाला) विगतभीः (भयरहित) मनः (मन को) संयम्य (वश में करके) मच्चित्तः (मुझमें चित्त रखनेवाला) मत्परः (मेरे परायण हुआ या मुझे परात्पर माननेवाला) युक्तः (सावधानीपूर्वक) आसीत (स्थित होवे) ।

"काया, सिर और गर्दन को एक सीध में तथा अचल रखकर, अपनी नासिका के अग्रभाग को स्थिर भाव से दृष्टि जमाकर देखते हुए, अन्य दिशाओं में दृष्टि न फेरते हुए, ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित रहकर, प्रशान्त अन्तःकरणवाला भयरहित हो (तथा) मन को वश में करके, मुझमें (अपने) चित्त को रखनेवाला (बनकर एवं) मेरे परायण होकर अथवा मुझे परात्पर मानने-वाला (होकर) सावधानी से स्थित होवे ।"

१३ वें श्लोक में यह बतलाया कि ध्यान करते समय तन को कैसा रखना चाहिए और १४ वें श्लोक

में मन को कैसा रखें यह सूचित किया। जाँघ से ऊपर और गर्दन के नीचे का स्थान 'काया' कहलाता है, 'ग्रीवा' गले या गर्दन को कहते हैं और गर्दन के ऊपर का भाग 'शिर' कहलाता है। ध्यान के अभ्यास में इन तीनों को एक सीध में रखना चाहिए। न तो हम आगे झुकें, न पीछे, न बाँयें, न दायें; हम तनकर भी न बैठें और एकदम शिथिल होकर भी नहीं। न तो हमारा सिर झुका हो, न गर्दन टेढ़ी हो। रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। आसन वह है, जिसमें हम सुखपूर्वक दीर्घ समय तक बैठे रह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह कि किसी विशिष्ट आसन में नहीं बैठना है; जिस व्यक्ति को जो आसन सहज और सुखप्रद लगे, वह उसी में बैठ सकता है। बैठकर अपनी दोनों आँखों को अपनी नाक के अग्र-भाग में गड़ा दे। नासिकाग्र में दृष्टि के केन्द्रित होने का बोध साधक को विक्षेपों से बचाता है। नाक की नोक को छोड़ और किसी दिशा में न देखे। इस प्रकार 'सम' और 'अचल' होकर बैठने से तथा आँखों को खुला रखने से साधक को आलस्य या निद्रा नहीं सता पाती।

यहाँ 'अचल' के साथ ही 'स्थिर' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। वैसे तो दोनों का अर्थ समान है, पर 'अचल' शब्द का यहाँ पर उपयोग विशेषकर काया, ग्रीवा और सिर के सन्दर्भ में किया गया है तथा 'स्थिर' का उपयोग शरीर के अन्य अंगों के सन्दर्भ में। तात्पर्य यह कि सिर, गर्दन और काया भी न हिलें तथा हाथ-पैर भी नहीं।

अब अगले श्लोक में यानी १४वें श्लोक में बतलाते हैं कि मन को कहाँ पर रखें। १३ वें श्लोक को पढ़कर

ऐसा लग सकता है कि दृष्टि के साथ साथ मन को भी नाक के अग्रभाग में केन्द्रित कर देना चाहिए। पर यह एक गलत समझ है। नासिकाग्र में केवल दृष्टि को स्थापित करना है, मन को नहीं। मन को तो परमात्मा में रखना है। आचार्य शंकर के अनुसार 'इति इवशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः, न हि स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणम् इह विधित्सितम्'--"यहाँ 'संप्रेक्ष्य' के साथ 'इव' शब्द लुप्त समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ अपनी नासिका के अग्रभाग को देखने का विधान करना उद्देश्य नहीं है।"

यहाँ पर साधक के लिए ७ विशेषण लगाये गये--(१) उसका मन प्रशान्त हो, (२) वह निडर हो, (३) ब्रह्मचारी-व्रत में स्थित हो, (४) उसका मन नियंत्रण में हो, (५) उसका चित्त मुझ (परमात्मा) में निविष्ट हो, (६) वह मेरे परायण हो अर्थात् मुझसे श्रेष्ठ या भिन्न और कुछ न जाने तथा (७) वह 'युक्त' हो अर्थात् सावधान हो।

राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि की वृत्तियों से मन में अशान्ति पैदा होती है। मन में होनेवाले सांसारिक संकल्प-विकल्प अन्तःकरण को मथते रहते हैं। इन वृत्तियों को दूर करने के लिए विवेक और वैराग्य का सहारा लेना चाहिए। विवेक और वैराग्य भी चित्त की ही वृत्तियाँ हैं, पर वे काम-क्रोधादि वृत्तियों के लिए 'एण्टीडोट' (antidote) का काम करती हैं। सत्-असत्, नित्य-अनित्य के निर्णय करनेवाली बुद्धिवृत्ति को 'विवेक' कहते हैं और निर्णय के पश्चात् असत् और अनित्य से पराङमुख करनेवाली वृत्ति 'वैराग्य' कहलाती है। साधक विवेक और वैराग्य को पुष्ट करनेवाले

शास्त्रीय साधनों को अपनाता हुआ अपने अन्तःकरण को अच्छी तरह से शान्त करने की चेष्टा करता है। ऐसा चेष्टाशील साधक ही 'प्रशान्तात्मा' है।

साधक में भय की वृत्ति नहीं होनी चाहिए। जो साँप-बिच्छू, कीड़े-मकोड़ों से डरेगा, जो भूत-प्रेत या बाघ-भालू से भय खाएगा, वह योगी नहीं बन सकता। भय की वृत्ति साधना में अत्यन्त बाधक होती है। एक महात्मा कहा करते थे कि निद्रा और भय ये दो वृत्तियाँ ऐसी हैं, जो साधक को सुप्त और विक्षिप्त करती रहती हैं। साधक को इन वृत्तियों का प्रयत्नपूर्वक नाश करना चाहिए।

ध्यानयोग की साधना में ब्रह्मचारी-व्रत का पालन एक अनिवार्य शर्त है। इसमें मुख्य है वीर्यरक्षण। गृहस्थ भी जब यह साधना करेगा, तो वीर्यरक्षण के बिना उसे ध्यानयोग में सिद्धि नहीं मिलेगी। वीर्य का सूक्ष्म अंश 'ओजस्' में परिवर्तित होता है। जिसमें इस ओज की मात्रा जितनी अधिक होती है, वह उतना ही तेजस्वी होता है, उसकी धृति उतनी ही पुष्ट होती है और वह मन को वश में करने में उतना ही समर्थ होता है। शास्त्रों में आठ प्रकार के मैथुन गिनाये गये हैं। उन सबका त्याग करना ही सही ब्रह्मचर्य है। अष्टमैथुन ये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टांग प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवं प्रकीर्तितम्॥

—'स्त्रियों का स्मरण करना, मुँह से उनकी बातें करना, उनके साथ क्रीड़ा करना, उन्हें (कामभाव) से

देखना, एकान्त में गुप्त बात करना, (स्त्री-प्रसंग का) मन में संकल्प उठाना, (उस संकल्प की सिद्धि के लिए) अध्यवसाय यानी प्रयत्न करना, और अन्त में 'क्रिया-निर्वृत्ति' यानी स्त्री-सम्पर्क—ये आठ प्रकार के मैथुन कहे जाते हैं। इनके विपरीत वर्तन को अर्थात् इन सबके परित्याग को ब्रह्मचर्य कहा गया है।' इसी के आधार पर स्त्रियों का भी ब्रह्मचर्य-व्रत समझना चाहिए।

साधक अपना मन नियंत्रण में रखे, उसे विषयों में जाने से रोके। मन स्वभाव से ही विषयों की ओर भागता है। उसे यह क्षमता अर्जित करनी चाहिए कि वह अपने मन को इच्छानुसार रोक सके।

यह क्षमता प्राप्त करने के लिए उसे 'मच्चित्तः' होना पड़ेगा, अर्थात् अपना चित्त परमेश्वर में लगाना पड़ेगा। इसके लिए आवश्यक है कि वह ईश्वर के गुणों का चिन्तन करे। जिस व्यक्ति को न देखा हो पर जिसके गुणों का श्रवण किया हो, तो उन गुणों का चिन्तन उस व्यक्ति के प्रति हमारे चित्त को आकर्षित करता है। परम हितैषी, परम प्रेमास्पद उस ईश्वर के प्रति चित्त का खिचना ही 'मच्चित्तः' शब्द से व्यक्त हुआ है।

साधक को 'मत्परः' होना चाहिए, अर्थात् वह भगवत्परायण बने—भगवान् को ही परात्पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ माने और उन्हें छोड़ और किसी को न जाने। ईश्वर के प्रति ऐसा भाव साधक की चित्तवृत्तियों के इधर-उधर भागने पर रोक लगाता है और ईश्वर को ही अपना सर्वस्व मानने की दिशा में उन्हें नियोजित करता है। भगवान् कृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं, इसलिए 'मच्चित्तः', 'मत्परः' कहते हैं। यहाँ 'मत्' शब्द

ईश्वरवाचक ही है। भगवान् भाष्यकार यहाँ पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'भवति कश्चिद् रागी स्त्रीचित्तो न तु स्त्रियमेव परत्वेन गृह्णाति, किं तर्हि राजानं महादेवं वा अयं तु मच्चित्तो मत्परः च'—'कोई स्त्री-प्रेमी स्त्री में चित्तवाला हो सकता है परन्तु वह स्त्री को सबसे श्रेष्ठ नहीं समझता, वह राजा को या महादेव को स्त्री की अपेक्षा श्रेष्ठ समझता है; किन्तु यह साधक तो चित्त भी मुझमें रखता है और मुझे ही सबसे अधिक श्रेष्ठ भी समझता है।'

अन्त में साधक को 'युक्तः'—सावधान—होना चाहिए। मन और इन्द्रियाँ मनुष्य को सतत छलने की चेष्टा करते रहते हैं। जागरूक साधक इस छल को पकड़ने में समर्थ होता है। जैसे कारखानों में लिखा रहता है—'सावधानी हटी कि दुर्घटना घटी', तो यह सत्य अध्यात्म-साधना पर भी लागू होता है। साधक को सतत सावधान रहना चाहिए।

इस प्रकार अब तक आसन, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान—अष्टांग-योग के इन चार अंगों—पर प्रकाश डाला गया। अब आगे के श्लोकों में इस ध्यान-योग का फल—समाधि—वर्णित करते हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥६/१५॥

एवम् (इस प्रकार) आत्मानं (अपने चित्त को) सदा (निरन्तर) युञ्जन् ([परमात्मा के स्वरूप में] लगाता हुआ) नियतमानसः (संयत मनवाला) योगी (योगी) मत्संस्थां (मेरी स्वरूपभूता) निर्वाणपरमां (निर्वाण को प्राप्त करानेवाली) शान्तिम् (शान्ति को) अधिगच्छति (प्राप्त होता है)।

"इस प्रकार अपने चित्त को निरन्तर (मुझ परमात्मा के स्वरूप में) लगाता हुआ संयत मनवाला योगी निर्वाण को प्राप्त करानेवाली मेरी स्वरूपभूता शान्ति को प्राप्त होता है।"

यही समाधि की अवस्था है। जिसने अपने मन को साध लिया है, वह उसे निरन्तर परमात्मा के स्वरूप में लगाने में समर्थ होता है। फलस्वरूप वह उस शान्ति को पा लेता है, जिसमें निर्वाण ही परम प्राप्य है। यह शान्ति भगवान् की स्वरूपभूता है। भगवान् के स्वरूप में स्थित होने का अर्थ है उस शान्ति की उपलब्धि करना, जिसका लक्ष्य, जिसकी पराकाष्ठा निर्वाण अर्थात् मोक्ष है। हम दूसरे अध्याय के ७२वें तथा पाँचवें अध्याय के २४वें श्लोक की व्याख्या में इस 'निर्वाण' शब्द पर विस्तार से विचार कर चुके हैं। चित्त-सरोवर की तरंगों का पूर्णरूपेण शान्त हो जाना ही निर्वाण या मोक्ष कहलाता है, इसी को परमशान्ति भी कहते हैं। ऐसा योगी जीवन्मुक्त होकर विचरण करता है।

ऊपर ११वें से १५वें श्लोक तक ध्यानयोग की प्रणाली का वर्णन किया गया, आध्यात्मिक साधना का विस्तार से विवेचन हुआ। पर इसके साथ कुछ व्यावहारिक सावधानी भी योगी को बरतनी पड़ती है, जिसके अभाव में ध्यानयोग सध नहीं पाता। उस व्यावहारिक सावधानी को अगले दो श्लोकों में व्यक्त करते हुए कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥६/१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।६/१७।।

अर्जन (हे अर्जुन) योगः (योग) न (न) तु (तो) अति (बहुत) अश्नतः (खानेवाले का) अस्ति (सिद्ध होता है) च (और) न (न) एकान्तम् (एकदम) अनश्नतः (नहीं खानेवाले का) च (तथा) न (न) अति (अत्यन्त) स्वप्नशीलस्य (शयन करने के स्वभाववाले का) च (और) न (न) जाग्रतः (जागनेवाले का) एव (ही) ।

"हे अर्जुन, (यह) योग न तो बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है, न एकदम नहीं खानेवाले का, न (तो) बहुत शयन करने के स्वभाववाले का, न (बहुत) जागनेवाले का ही ।"

युक्ताहारविहारस्य (नियमित आहार-विहार करनेवाले का) कर्मसु (कर्मों में) युक्तचेष्टस्य (उचित मात्रा में चेष्टा करनेवाले का) युक्तस्वप्नावबोधस्य (नियमित सोने-जागनेवाले का) योगः (योग) दुःखहा (दुःखनिवारक) भवति (होता है) ।

"नियमित आहार-विहार करनेवाले, उचित मात्रा में कर्मशीलता रखनेवाले (तथा) उचित मात्रा में सोने-जागनेवाले के लिए (यह) योग दुःखनिवारक होता है ।"

बहुत खा लेने से आलस्य उपजता है और एकदम नहीं खाने से कमजोरी आती है । यहाँ पर 'आहार' शब्द से मात्र भोजन (खाना-पीना) नहीं समझना चाहिए; अपितु ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों का जो आहरण है, ग्रहण है, वह सब भी उसके अन्तर्गत आता है । बहुत सोने से तमोगुण की वृद्धि होती है, जिससे बुद्धि में भोथरापन आ जाता है । बहुत जागने से शरीर में थकावट बनी रहती

है और साधना के समय नींद आती है। इसलिए आहार-विहार, सोना-जागना, क्रियाशीलता सबमें उचित मात्रा होनी चाहिए। यही 'युक्त' शब्द का अर्थ है। ये सब असन्तुलित मात्रा में होने से या तो रजोगुण बढ़ता है या तमोगुण। और यदि उचित मात्रा में ये क्रियाएँ हों, तो मन में सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप अन्तःकरण निर्मलता, प्रसन्नता और चेतनता से भर जाता है। इससे ध्यान-योग को साधने में सुगमता होती है। ऐसे साधक के लिए यह योग तन और मन दोनों के स्तर पर समता की उपलब्धि में हेतु होने के कारण सम्पूर्ण दुःखों का निवारक सिद्ध होता है; क्योंकि दुःख या तो शरीर की धातुओं की विषमता से पैदा होते हैं या फिर मन की विषमता से।

इस युक्त-आहार-विहार आदि को ही भगवान् बुद्ध ने 'मध्यम मार्ग' कहकर पुकारा है, और हम अपने ४४वें गीताप्रवचन में कह ही चुके हैं कि 'गीता' बुद्ध से बहुत पहले की रचना है। ○

माँ के सान्निध्य में (१२)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर के संचालक हैं।—स०)

उद्‌बोधन : सुबह

मैं——अच्छा माँ, तुमने जयरामवाटी में कहा था कि सबकी उत्पत्ति एक समय हुई है, जो कुछ हुआ है सब एक ही समय हुआ है, एक एक करके नहीं हुआ।

माँ——उन्होंने क्या एक एक करके सृष्टि की है? यह मानो उनकी एक कल चल रही है—जैसे आटे की चक्की। कल वाला देखता है कि कहीं उसकी कल खराब न हो जाय। वह यह नहीं देखता रहता कि गेहूँ का एक एक दाना पिस रहा है या नहीं। वैसे ही वे अपनी कल ठीक रखते हैं। कहाँ कौन क्या क्या कर रहा है इन सब छोटी छोटी बातों को वे थोड़े ही देखते रहते हैं? उनकी अनन्त सृष्टि है, उन्हें सब समय चौकस रहना पड़ता है। इतनी बारीकियों को देखते रहने से भला कैसे चलेगा?

मैं——माँ, कभी कभी तुम्हें रामायण पढ़ते हुए देखता हूँ। तुमने पढ़ना कब सीखा?

माँ——बचपन में प्रसन्न, रामनाथ ये लोग सब पाठशाला जाते थे। उनके साथ मैं भी कभी कभी जाती थी। उसी से कुछ कुछ सीखा था। बाद में कामारपुकुर में मैं और लक्ष्मी 'वर्ण परिचय' से कुछ कुछ

पढ़तीं । भानजे (हृदय) ने एक दिन पुस्तक छीन ली और कहा, 'लड़कियों को लिखने-पढ़ने की क्या जरूरत ? बाद में क्या उपन्यास, नाटक पढ़ना है ?' लक्ष्मी ने पुस्तक नहीं छोड़ी । घर की लड़की जो ठहरी, उसने जोर पकड़ लिया । मैंने बिना किसी को बताये एक किताब एक आना देकर मँगवायी । लक्ष्मी पाठशाला में पढ़कर आती और आकर मुझे पढ़ाती । पर अच्छी तरह सीखना दक्षिणेश्वर आने पर हुआ । ठाकुर तब इलाज के लिए श्यामपुकुर में थे । मैं अकेली रहती । भव मुखर्जी की लड़की स्नान को आती । वह बीच बीच में बहुत देर मेरे पास रुकती । रोज नहाते समय सबक देती और देख लेती । मैं उसे साग-सब्जी, बगीचे से जो मेरे यहाँ दिया जाता, बहुत सा उसे देती ।

मैं—माँ, ठाकुर जयरामवाटी क्या कई बार गये थे अथवा एकाध बार ?

माँ—कई बार गये थे । कभी कभी तो जाकर दस-बारह दिन रह जाते । जब भी वे कामारपुकुर जाते, वे जयरामवाटी, शिहड़ ये सब जगह होकर वापस लौटते । शिहड़ में उन्होंने ग्वालबालों को खिलाया था ।

मैं—यह कब की बात है ? साधना के समय की या उसके बाद की ?

माँ—साधना के बाद की । साधना के समय तो उनकी उन्माद की सी अवस्था थी । उस समय ससुराल जाने से लोग उन्हें पागल कहते । शिव जब ससुराल को गये तो सभी कहने लगे, 'अरी, उमा, तेरे कपाल में क्या यही बदा था कि आखिर में इस पगले के हाथ पड़ी ?' उस समय (विवाह के बाद)

ठाकुर को लोग कितना क्या कहते, 'पगला दामाद है रे, अब क्या होगा पता नहीं ?'

मैं—कल जो मणीन्द्र गुप्त आये थे, उन्हें तो और कभी नहीं देखा ?

माँ—वह और एक बार आया था । ठाकुर के पास जाता था, तब बहुत छोटा था ।

मैं—छोटे नरेन को यहाँ एक बार भी नहीं देखा ।

माँ—वह आता नहीं । ठाकुर के पास आता था । काले रंग का था, छरहरा बदन, मुँह में माता के दाग थे । ठाकुर उसे बहुत प्यार करते थे । उसकी याद करते, कहते, 'देखो, छोटे नरेन की याद आ रही है, यह छोटा नरेन आया'—भावावस्था में वे देखते ।

मैं—पल्टू बाबू केवल एक दिन यहाँ आये थे । तारक बाबू (बेलघरिया के) तो बीच बीच में यहाँ आते हैं ।

माँ—पतू (पल्टू) भी बीच बीच में यहाँ आता है । मुझे हर महीने एक रुपया देता है । बड़ा गरीब है । मैं जब जयरामवाटी में रहती हूँ तो वहाँ भेजता है । पतू और मणीन्द्र छुट्टी में जब ठाकुर के पास जाते थे तब बच्चे थे—दस-ग्यारह साल के । काशीपुर के बगीचे में होली के दिन सब लोग बाहर चले गये—अबीर खेलने । पर ये दोनों नहीं गये । ठाकुर को हवा करने लगे—एक इधर से, दूसरा उधर से । बच्चे ठहरे, हाथ में पंखा ठहरता नहीं था । कभी पंखा करते, कभी पैर दबाने लगते । ठाकुर को तब खाँसी थी, सिर में जलन होती । इसलिए हवा की आवश्यकता होती । ठाकुर कहते, 'अरे जाओ, जाओ, तुम लोग नीचे जाओ । अबीर खेलना, सब

गये हैं ।' पतू कहता, 'नहीं, महाशय, हम लोग नहीं जाएँगे । हम लोग यहीं रहेंगे । आप हैं, भला आपको छोड़कर हम लोग जा सकते हैं ?'

"वे लोग किसी प्रकार भी नहीं गये । ठाकुर रोते हुए कहने लगे, 'अरे, ये लोग ही मेरे रामलला हैं, मेरी सेवा करने आये हैं । लड़के हैं फिर भी मुझे छोड़ आमोद-प्रमोद की ओर लौटकर भी नहीं देखा ।' मैंने देखा, यह कहते हुए उनकी आँखों से आँसू छलक उठे ।"

मैं—ठाकुर के पास कितने सब भक्त जाते थे, वे सब अब कहाँ हैं ? यहाँ तो कोई आता नहीं ?

माँ—वे लोग अपने आप में आनन्द में हैं ।

मैं—वह भी क्या आनन्द है !

माँ—सो तो ठीक है, बेटा । संसार में स्त्री-पुत्र को लेकर क्या कोई सुख है ? सब कामिनी-काञ्चन में भूले हुए हैं । संसार में आखिर सब कुछ भोगना ही है ।

मैं—उस पर फिर मन बहिर्मुखी है ।

माँ—जगदम्बा काली ही सबकी माँ हैं, उन्हीं से अच्छा-बुरा सब हुआ है । उन्हीं ने सब पैदा किया है । स्वतःसिद्ध, साधनसिद्ध, हठात्-सिद्ध—उनसे ही निकले हैं !

मैं—हठात्-सिद्ध क्या है ?

माँ—जैसे कोई दूसरे का धन पाकर हठात् बड़ा आदमी हो जाय ।

इसी समय नलिनी नहाकर आयी । ऊपर का संडास थोड़ा गन्दा था इसलिए उसने उस पर एक-दो हण्डी पानी डालकर साफ किया था । इसीलिए वह गंगास्नान करके आयी है । माँ ने देखकर कहा, "नलिनी, गंगास्नान कर आयी हो ?" नलिनी ने कारण बताया ।

मैं—नल में नहाने से ही तो होता।

माँ—ठीक ही तो है, नल में नहाकर गंगा-जल छू लेने से ही हो जाता। (नलिनी का शरीर स्वस्थ नहीं था।)

नलिनी—ऐसा भी कहीं होता है ? आखिर वह संडास जो है ।

माँ—उससे क्या हुआ ? तूने मल को छुआ तो नहीं ? और छूने से भी क्या होता ? पेट में भी तो वही है । ठाकुर कहते थे, 'एक बर्तन में भात-दाल, सब्जी-पनीर, मक्खन सब रख दो । दो दिन बाद ही सब सड़कर दुर्गन्ध देने लगेगा । मल भी तो वही है।' उन्होंने दक्षिणेश्वर में खुद का मल मुँह में दिया था। न्याँगटा (तोतापुरी) ने कहा, 'वह तो खुद का मल है ।' तब ठाकुर ने अन्यत्र जाकर मल को चखा।

"मैं भी तो गाँव में कितनी ही बार सूखे मल के ऊपर से चली हूँ। दो बार 'गोविन्द' 'गोविन्द' कहा कि बस, शुद्ध हो गयी । मन में ही सब है—मन में ही शुद्धि है और मन में ही अशुद्धि । मनुष्य पहले खुद को दोषी बनाता है, तभी दूसरे में दोष देखता है । दूसरों में दोष देखने से भला उसका क्या होगा ? खुद की ही हानि होगी । मेरा बचपन से ही यह स्वभाव रहा है कि मैं किसी के दोष नहीं देख सकती। यदि मेरे लिए कोई थोड़ा भी कुछ करता है तो मैं उसे उसी के माध्यम से याद रखने की कोशिश करती हूँ। फिर मनुष्य के दोष देखना ? क्या मनुष्य का दोष देखना चाहिए ? वह मैंने नहीं सीखा। क्षमा ही तपस्या है।"

मैं—स्वामीजी कहते थे, 'कमरे में यदि चोर घुसकर कुछ निकाल ले जाय तो तुम्हारे मन में

उठेगा——चोर, चोर । पर एक शिशु के मन में चोर-बुद्धि नहीं होती । वह किसी को चोर के रूप में नहीं देखता ।'

माँ——वह तो है ही । जिसका मन शुद्ध है, वह सब शुद्ध ही देखता है । इस गोलाप का (उस समय गोलाप-माँ किसी काम से आयीं) मन शुद्ध है । वृन्दावन में माधवजी के मन्दिर में किसी के बच्चे ने टट्टी कर दी थी । सभी 'टट्टी' 'टट्टी' चिल्ला रहे थे, पर किसी ने उसे साफ करने की कोशिश नहीं की । गोलाप ने वह देख तुरन्त अपनी धोती, मलमल की नयी धोती फाड़कर टट्टी को उठाकर जगह साफ कर दी । औरतें यह देख कहने लगीं, 'जब इसने साफ किया है तो अवश्य इसी के बच्चे ने मैला किया होगा !' मैं मन ही मन कहने लगी, 'देखो माधव, ये क्या कह रहे हैं ।' फिर कोई कहने लगा, 'ये लोग साधु हैं (योगीन स्वामी आदि साथ में थे), इन लोगों की सन्तान कैसे ? मन्दिर में विष्ठा पड़ी है, सबको दर्शन की असुविधा हो रही है, यह सोच इन लोगों ने साफ किया ।'

"इस गंगा के घाट में यदि कहीं मैला पड़ा रहे तो गोलाप यहाँ-वहाँ से चिथड़ा खोजकर उसे उठा, उस स्थान पर कई हण्डी पानी डाल उसे साफ कर देती है । इससे दस लोगों को सुविधा हो जाती है । लोगों को शान्ति मिलने से गोलाप का भी मंगल होगा । उनकी शान्ति से इसे भी शान्ति मिलेगी ।

"बहुत साधना-तपस्या करने से, पूर्वजन्म की बहुत तपस्या होने से तब कहीं इस जन्म में मन शुद्ध होता है ।"

○

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें : नरेन्द्रनाथ

(उत्तरार्ध)

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेख-माला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के एक न्यासी और प्रशासी-मण्डल के एक सदस्य होते हुए उसके सहायक सचिव हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जहाँ से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक स्वामी श्रीकरानन्द रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं। —स०)

पैंतालीस वर्षीय श्रीरामकृष्ण ने प्रचण्ड प्रयोगों की श्रृंखला के माध्यम से इस अद्भुत सत्य को उद्घाटित किया था कि हिन्दू, बौद्ध, ईसाई तथा इसलाम के पथ उसी एक चरम लक्ष्य, ईश्वर को पहुँचाते हैं जो विभिन्न मतों द्वारा अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है। श्रीरामकृष्ण ने दिखलाया कि आर्थिक जीवन, सामाजिक जीवन अथवा कलात्मक जीवन तभी सुरक्षित हो सकता है, जब मानव का जीवन आध्यात्मिक आदर्श से बँधा हो। लोग उनके व्यवहार की सरलता एवं निरहंकारिता से मुग्ध थे। उनकी आध्यात्मिक शक्ति ऐसी थी कि मात्र स्पर्श से, अथवा दृष्टिमात्र से, किसी कथन से अथवा इच्छा करने से ही वे उन लोगों के जीवन को परिवर्तित कर दे सकते थे। आध्यात्मिक जिज्ञासु की सम्भावना को उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त पथ पर विकसित कर देने की उनकी विधि

अनूठी थी। उनके सम्बन्ध में नरेन्द्र ने बाद में कहा था, "अपने जीवन में उस प्रकार का कोई दूसरा व्यक्ति मैंने नहीं देखा, और मैं तो सारे संसार में घूमा था। जब मैं उस व्यक्ति के सम्बन्ध में सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं मूर्ख हूँ, क्योंकि मैं पुस्तकें पढ़ना चाहता हूँ और उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया। वे कभी दूसरे की जूठी पत्तल नहीं चाटना चाहते थे। इसीलिए वे स्वयं अपनी किताब थे।"[१] एक अन्य प्रसंग में उन्होंने कहा था, "उन होंठों ने कभी किसी को शाप नहीं दिया, न ही कभी किसी की निन्दा की। वे नेत्र पाप को देखने की सम्भावना के परे थे, उनके चित्त में पाप के विचार पूरी तरह से नष्ट हो गये थे। वे अच्छा के सिवाय कुछ नहीं देखते थे।" उनके लिए—"श्री-रामकृष्ण एक शक्ति थे। यह मत सोचो कि उनका मत इस प्रकार या उस प्रकार था। पर वे वह शक्ति हैं. . .जो संसार में कार्य कर रही है।"[२] यह वह व्यक्तित्व था, जिससे मिलने युवक नरेन्द्र आये थे।

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में छोटे तख्त पर बैठे हुए थे। वे लाल किनार की सामान्य धोती पहने हुए थे। बहुत सम्भव है उन्होंने ठण्ड की अपनी सामान्य पोशाक—हरे रंग की लाल किनार वाली शाल—पहन रखी हो। मझोले कद के श्रीरामकृष्ण की काया क्षीण थी और उनका गात अत्यन्त कोमल था। अर्धोन्मीलित नेत्र और छोटी छोटी दाढ़ीयुक्त उनके मुख-मण्डल को देख आगन्तुक सहसा यह अनुमान नहीं लगा सकता था कि उसके पीछे एक असाधारण व्यक्तित्व

१. 'विवेकानन्द साहित्य', भाग ३, जन्मशती प्रकाशन, अद्वैत आश्रम, पृ. २२० ।

२. वही, पृ. २६१ ।

छुपा है। उनकी मुसकराहट मोह लेनेवाली थी। उनकी ग्रामीण बंगला बोली, जिसे हलकी तुतलाहट ले वे बोलते, सुननेवालों को बाँधे रखती।

श्रीरामकृष्णदेव ने नरेन्द्र की यात्रा का वर्णन इन शब्दों में किया है—

"पश्चिम (गंगा) की ओर के दरवाजे से नरेन्द्र प्रथम दिन इस कमरे में प्रविष्ट हुआ था। मैंने देखा, अपने शरीर का उसे कुछ ध्यान नहीं है, बाहर के किसी पदार्थ पर साधारण मनुष्यों की तरह कुछ ख्याल ही नहीं है। सभी कुछ निराला है। आँखें देखकर ऐसा लगा मानो उसके मन को किसी ने जबरदस्ती अन्तर्मुखी बना दिया है। प्रतीत हुआ कि विषयी लोगों के निवासस्थल कलकत्ते में क्या इतना बड़ा सत्त्वगुणी आधार रहना भी सम्भव है!

"फर्श पर चटाई बिछी हुई थी। मैंने उसे उस पर बैठने के लिए कहा। जहाँ इस समय गंगाजल का घड़ा है, उसी के पास वह बैठ गया। उसके साथ उस दिन उसके दो-चार मित्र भी आये थे। देखा, उनका स्वभाव सम्पूर्ण विपरीत है—साधारण विषयी मनुष्यों की तरह; भोग की ओर ही दृष्टि है।

"गाना गाने की बात पूछने पर मालूम हुआ, उस समय उसने दो ही चार बँगला गीत सीखे हैं। उन्हींको गाने के लिए कहा। उस पर उसने ब्राह्मसमाज का 'मन चलो निज निकेतने'[३] गीत गाया। इतनी तन्मयता के साथ

३. स्वामी शुद्धानन्द की डायरी के अनुसार श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को पहचान लिया कि उसे सुरेन्द्रनाथ मित्र के यहाँ पहले देखा था। उन्होंने नरेन्द्र से कहा, "मुझे तुम्हारा गाना सुनने की बहुत

सोलह आने मन-प्राण देकर गाया मानो प्रतीत होता था

इच्छा है। उस दिन तुमने गाया था। वे सुनने में बहुत अच्छे थे।" उन दिनों वे हिन्दी के लिखे शास्त्रीय गाने तथा कुछ थोड़े ब्राह्मसमाज के बँगला भजन ही जानते थे।

अयोध्यानाथ पाकड़ाशी के लिखे इस गीत का भावार्थ है—'मन अपने घर चलो। संसार-विदेश में विदेशी के वेश में क्यों वृथा भटक रहे हो? शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय और क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर ये पाँच भूत कोई भी तेरे अपने नहीं हैं, सभी पराये हैं। पराये प्रेम से अचेतन होकर क्यों तुम अपने जन को भूल रहे हो? हे मन, सत्य पथ पर आरोहण करो, प्रेम का दीपक जलाकर सदा उस पथ पर चलते जाओ, साथ में भक्तिरूप धन को बहुत यत्न से छिपाकर रख लो। लोभ, मोह आदि उस पथ के डाकू, पथिक का सब कुछ छीन लेते हैं। इसी कारण कहता हूँ—हे मन, शम (मन का संयम) और दम (बाहरी इन्द्रियों का दमन) इन दोनों को पहरेदार रखो। साधुसंग नामक पान्थ-निवास उस पथ में है, थक जाने पर वहाँ विश्राम लेना, पथ-भ्रम होने से उस पान्थ-धाम के निवासियों से रास्ता पूछ लेना। यदि पथ में भय की आकृति दिखाई पड़े तो प्राणपण से राजा की दुहाई देना। उस पथ पर राजा का प्रबल प्रताप है, जिनके शासन से यमराज भी डरते हैं।' (देखें 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा. ३, रामकृष्ण मठ, नागपुर, द्वितीय संस्करण, पृ. ६१९)।

'वचनामृत' के अनुसार नरेन्द्र ने स्वयं बताया था कि उन्होंने दो गाने गाये थे। दूसरा गाना बेचाराम चटर्जी का लिखा हुआ है, जिसका भावार्थ है—'क्या मेरे दिन व्यर्थ ही बीत जाएँगे? हे नाथ, मैं दिन-रात आशा-पथ पर आँख गड़ाये हुए हूँ।'...

कि ध्यानस्थ होकर गा रहा है। गान सुनकर मैं अपने को सम्हाल न सका, भावाविष्ट हो गया।"[४]

ज्योंही श्रीरामकृष्ण का मन सामान्य भूमि पर उतरा, उन्होंने दिव्य मुसकान से दीप्त मुख से कहा, "देखो! किस प्रकार नरेन ज्ञान की देवी सरस्वती के आलोक से प्रकाशित हो रहा है!"[५] कमरे में उपस्थित लोग यह सुनकर आश्चर्यचकित हुए, पर इसके मर्म को नहीं समझ सके। ठाकुर के पूछने पर नरेन्द्र ने बतलाया कि प्रतिदिन सोने के पूर्व भौंहों के बीच वे एक प्रकाश का गोला देखते हैं। श्रीरामकृष्ण प्रसन्न हुए और उन्होंने

---

४. 'वचनामृत', भा. ३, पृ. ६१९।

५. 'दि लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द' में यह घटना श्रीरामकृष्ण-देव द्वारा नरेन्द्र को मिठाई इत्यादि खिलाने के बाद की बतलायी गयी है। हमने यहाँ यह प्रसंग स्वामी शुद्धानन्द की डायरी के आधार पर लिया है।

'तत्वमंजरी' में मनोमोहन मित्र के लिखे वर्णन के अनुसार नरेन्द्र ने सिर्फ वह गीत गाया, जिसका भाव था—'निरंजन पुरातन पुरुष एक हैं; अरे, तू उन पर अपने चित्त को लगा दे। वे आदि सत्य हैं, वे कारण (माया) के भी कारण हैं। प्राणरूप से वे स्वत:प्रकाशित और ज्योतिर्मय हैं। सबके आश्रय हैं। जिसका उन पर विश्वास होता है, वह उनके दर्शन करता है। वे अतीन्द्रिय भूमि में रहते हैं, नित्य और चैतन्यस्वरूप हैं।' इत्यादि। गीत सुनकर श्रीरामकृष्णदेव भावसमाधि में डूब गये और उनका मुखमण्डल आनन्द से दीप्त हो उठा। 'वचनामृत', भा. ३, पृ. ३८२ से इस बात को समर्थन मिलता है कि नरेन्द्र ने उपर्युक्त गीत गाया था।

व्यक्त किया कि वह नरेन्द्र की उस अव्यक्त ब्रह्म का ध्यान करने की जन्मजात क्षमता को इंगित करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने उस समय क्या हुआ था उसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

"उसके बाद ही श्रीरामकृष्णदेव एकाएक उठकर मेरा हाथ पकड़कर अपने कमरे के उत्तर की ओर के बरामदे में मुझे खींच ले गये। उस समय शीतकाल था। उत्तरी हवा को रोकने के लिए बरामदे के खम्भों के बीच-बीच में टट्टे घिरे हुए थे। इसलिए वहाँ भीतर जाकर कमरे का दरवाजा बन्द कर देने से कमरे के भीतर या बाहर के किसी व्यक्ति को देखा नहीं जा सकता था। बरामदे में प्रविष्ट होकर श्रीरामकृष्णदेव द्वारा दरवाजा बन्द कर देने पर मैंने सोचा—सम्भवतः एकान्त में मुझे कुछ उपदेश देंगे। परन्तु उन्होंने जो कुछ कहा और किया, वह कल्पनातीत है। एकाएक उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया, उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगी और पूर्व परिचित की तरह मुझे परम स्नेह से सम्बोधित करते हुए कहने लगे, 'तू इतने दिनों के बाद आया? मैं तेरे लिए किस प्रकार प्रतीक्षा कर रहा था, तू सोच भी नहीं सकता? विषयी मनुष्यों के व्यर्थ के प्रसंग सुनते-सुनते मेरे कान जले जा रहे हैं, मन की बात किसी से न कह सकने के कारण मेरा पेट फूलता जा रहा है!'—आदि आदि वे कितनी बात कहने लगे और रोने लगे। दूसरे ही क्षण मेरे सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये और देवता की तरह मेरे प्रति सम्मान दिखाकर कहने लगे, 'मैं जानता हूँ, प्रभु, आप वही पुरातन ऋषि—नररूपी नारायण हैं, जीवों की दुर्गति दूर करने के लिए आप पुनः संसार में

अवतीर्ण हुए हैं !' इत्यादि ।[६]

"मैं तो उनके इस प्रकार के आचरण से एकदम अवाक् और स्तम्भित हो गया । मन में सोचने लगा, मैं किसे देखने आया हूँ, ये तो एकदम उन्माद हैं—मैं तो विश्वनाथ दत्त का पुत्र हूँ, मुझसे ऐसी बातचीत ! जो हो, मैं चुप रह गया । अपूर्व पागल जो मन में आया, कहते चले गये । थोड़ी देर बाद मुझे वहीं ठहरने के लिए कहकर वे कमरे में चले गये और मक्खन, मिश्री तथा कुछ मिठाई लाकर अपने हाथ से मुझे खिलाने लगे । मैं कहने लगा, 'मुझे मिठाइयाँ दे दीजिए, साथियों के साथ खाऊँगा ।' पर उन्होंने कुछ नहीं माना और कहा—'वे लोग भी खाएँगे, तुम तो खा लो ।' इतना कहकर उन्होंने मुझे सब कुछ खिलाकर ही छोड़ा, इसके बाद हाथ पकड़कर उन्होंने कहा, 'बोल, तू जल्दी ही एक दिन मेरे पास अकेला आएगा तो ?' उनके उस आग्रहपूर्ण अनुरोध को टाल न सकने के कारण लाचार होकर 'आऊँगा' कह दिया और उनके साथ साथ कमरे में आकर

---

६. रोमाँ रोलाँ ने ठीक ही लिखा है कि नरेन्द्र से कहे प्रारम्भिक कुछ वचनों में ही श्रीरामकृष्ण ने, जिस समाज-सेवा के लिए विवेकानन्द अपने जीवन को उत्सर्गित करनेवाले थे उसका निर्धारण कर दिया । ('The Life of Ramakrishna', पृ. २५० का फुटनोट) ।

'वचनामृत', भा. ३, पृ. ६१९ के अनुसार नरेन्द्र से तीसरी भेंट तथा उनकी दूसरी दक्षिणेश्वर-यात्रा में श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र की देवता के रूप में स्तुति करते हुए कहा था, 'नारायण ! तुम मेरे लिए शरीर धारण करके आये हो ।'

अपने साथियों के साथ ,बैठ गया ।"[७]

नरेन्द्र चुपचाप बैठकर उनकी ओर ताकने लगे, परन्तु उन्हें उनकी चाल-ढाल, बातचीत और दूसरों से व्यवहार में उन्माद का कोई लक्षण नहीं दिखा । उनकी सत्कथा और भावसमाधि देखकर उन्हें ऐसा लगा कि सचमुच ही ये ईश्वरार्थ सर्वत्यागी हैं और जो कहते हैं, उसका अनुष्ठान भी स्वयं करते हैं । उन्होंने त्याग के सम्बन्ध में बहुत अच्छा समझाया ।

सहसा नरेन्द्र को ऐसा लगा कि 'क्या यह व्यक्ति महान् गुरु हो सकता है ?' वे श्रीरामकृष्ण के समीप सरक आये और वही चुनौती-भरा प्रश्न किया, जिसे वे पहले भी कई धार्मिक नेताओं से पूछ चुके थे ।

"महाशय ? क्या आप ईश्वर पर विश्वास करते हैं ?"

"हाँ ।"

"महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है ?"

"हाँ, तुम लोगों को जैसा अभी देख रहा हूँ वैसा ही उन्हें देखता हूँ, पर और अधिक तीव्रता से । यदि तुम चाहो तो तुम भी देख सकते हो !"[८]

श्रीरामकृष्ण ने आगे कहा, "तुम लोगों को जैसे देख रहा हूँ, तुम लोगों से जैसे बातचीत कर रहा हूँ, वैसे ही ईश्वर को भी देखा जाता है और उनसे

७. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा. ३, पृ. ५४ ।

८. स्वामी विवेकानन्द का भाषण 'मेरे गुरुदेव' ('विवेकानन्द साहित्य', भा. ७, पृ. २३५) । इस संवाद के अन्तिम अंश गुरुदास बर्मन, पृ. २१२ से लिये गये हैं ।

बात की जा सकती है, परन्तु वैसा चाहता कौन है ? लोग स्त्री-पुत्र के शोक में घड़ों आँसू बहाते हैं, विषय और धन के लिए तरसते रहते हैं, परन्तु ईश्वर का दर्शन नहीं हुआ, कहकर कौन रोता है ? उन्हें मैं नहीं पा सका ऐसा कहकर यदि कोई व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है, तो वे अवश्य ही दर्शन देते हैं ।"[९]

नरेन्द्र को ऐसा लगा मानो श्रीरामकृष्ण अपनी दिव्य अनुभूतियों के आधार पर दैवी प्रेरणा से बोल रहे हों । उस घटना का प्रभाव उन पर कैसा पड़ा था इसको उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"इस उत्तर से मेरे मन पर उसी समय बड़ा असर पड़ा, क्योंकि जीवन में मुझे प्रथम बार ही यह ऐसा पुरुष मिला, जिसने तुरन्त ही कह दिया कि मैंने ईश्वर को देखा है, तथा जिसने यह भी बताया कि धर्म एक वास्तविक सत्य है, और जिस प्रकार हम अपनी इन्द्रियों द्वारा विश्व का अनुभव करते हैं, उसके कहीं अधिक प्रमाण में उसका अनुभव किया जा सकता है ।"[१०]

इसके बावजूद नरेन्द्र अपने नेत्रों के सामने बैठे इस आडम्बरशून्य सरल एवं शान्त चित्त व्यक्ति के चित्र का उसके उस विचित्र व्यवहार से कोई मेल नहीं बिठा पा रहे थे, जो उन्होंने अभी अभी देखा था । वे इस निर्णय पर पहुँचने के लिए बाध्य-से हो रहे थे कि श्रीरामकृष्ण एक सनकी व्यक्ति हैं और उन्हें ऐसा भी लगा कि इस बूढ़े व्यक्ति ने उनको सम्मोहित कर दिया रहा होगा ।

---

९. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा. ३, पृ. ५५ ।
१०. 'विवेकानन्द साहित्य', भा. ७, पृ. २६० ।

तथापि उन्होंने अपने तईं सोचा, 'ये पागल हो सकते हैं, परन्तु इनके जैसा त्याग तो बिरले भाग्यवान् में ही हो सकता है। पागल होने पर भी यह आदमी पवित्रों में भी पवित्र है, यथार्थ सन्त है और मात्र इसी बात के लिए भी वह मनुष्यों में पूजनीय बनने योग्य है।' इस प्रकार के परस्पर-विरोधी विचारों में फँसे, उन्होंने श्रीरामकृष्ण के सामने नतमस्तक हो उनसे कलकत्ता लौटने की अनुमति माँगी। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें पकड़कर प्रेमपूर्वक पूछा, "फिर आना, आओगे न ? तुम्हारे लिए मैं बहुत उत्सुक हूँ। क्यों, फिर आओगे न ?" नरेन्द्र यह कहने से अपने को नहीं रोक सके, "महाशय, मैं कोशिश करूँगा।"

श्रीरामकृष्ण ने पहले ही नरेन्द्र के व्यक्तित्व का मूल्यांकन कर लिया था। उन्होंने बाद में नरेन्द्र को 'नित्यसिद्ध', 'ईश्वरकोटि' इत्यादि कहकर बतलाया। अपनी अनूठी शैली में उन्होंने नरेन्द्र को सहस्रदल पद्म कहा। "दूसरे लोग लोटा-गिलास हैं। नरेन्द्र एक बड़ा हण्डा है। मछलियों में मानो वह लाल आँखोंवाली विशाल कार्प (Carp) मछली के समान है' और दूसरे लोग विभिन्न प्रकार की छोटी मछलियाँ।...वह उस प्रकार के कबूतर के समान है जो चोंच पकड़ने पर जोर लगाकर छूट जाता है।...किसी भीड़ में उसके साथ रहने से मुझमें बहुत साहस बना रहता है।" श्रीरामकृष्ण कभी भी नरेन्द्र की प्रतिभा की उच्चता और उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर इंगित करने में नहीं थकते थे। वे स्वयं अपने शिष्य की लौकिक तथा आध्यात्मिक साधनों से परीक्षा लिया करते तथा कहते,

"तुम लोग मेरी परीक्षा उसी प्रकार करो जिस प्रकार सूदखोर रुपयों को ठोक-पीटकर लेते हैं। जब तक अच्छी तरह से परीक्षा न ले लो तब तक मुझे मत स्वीकार करो।" चूँकि श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र में 'भविष्य का महान् व्यक्ति' देखा था, इसलिए अपने शिष्यों में उन्हें सबसे ऊँचा स्थान दिया था।[११] उन्होंने सबके सामने उस समय के जगत्प्रसिद्ध केशवचन्द्र सेन की प्रख्याति को नरेन्द्र की भावी प्रसिद्धि के सामने कम बतलाया था। और नरेन्द्र तो उस समय कुछ भी नहीं थे। पर यह सब सुनकर नरेन्द्र फूलकर कुप्पा नहीं हुए बल्कि उसे सन्त की अपनी सम्भावनाओं के बारे में मात्र बढ़ी-चढ़ी बात माना।

नरेन्द्र घर लौटकर श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं बना पाये। उनकी दार्शनिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा को जबरदस्त झटका लगा था। अपनी दूसरी यात्रा में, जो लगभग एक माह बाद हुई थी, नरेन्द्र ने निश्चय किया था कि वे 'उस विचित्र व्यक्ति की यथार्थता और शक्ति' का आकलन करेंगे। पर जब श्रीरामकृष्ण ने उनके करीब आते हुए अर्ध भावावस्था में अपना दाहिना पैर उनके शरीर से छुआया तो एक प्रबल आध्यात्मिक अनुभव की लहर ने नरेन्द्र को बहा दिया। नरेन्द्र ने आँखें खोलकर देखा कि घर की दीवालों के साथ सारी चीजें घूमती हुई कहीं विलीन होती जा रही हैं और सारे ब्रह्माण्ड के साथ उनका

११. स्वामी रामकृष्णानन्द : 'Sri Ramakrishna and His Mission', रामकृष्ण मठ, मद्रास, १९५५, पृ. ४६।

क्षुद्र 'अहं'-भाव सर्वव्यापक महाशून्य में विलीन होता जा रहा है।[१२] वे भय से घबड़ाकर चिल्ला उठे। श्रीरामकृष्ण खिलखिलाकर हँस पड़े और नरेन्द्र की छाती का स्पर्श करते हुए उन्हें सहजावस्था में लौटा लाये। घर लौटते समय नरेन्द्र विचार कर रहे थे, 'इच्छामात्र से यह पुरुष यदि मेरे जैसे प्रबल इच्छाशक्तिसम्पन्न चित्त के दृढ़ संस्कारयुक्त गठन को इस तरह तोड़-फोड़कर मिट्टी के लोंदे की तरह अपने भाव में डाल सकते हैं, तो इन्हें पागल ही कैसे समझूँ?' अगली बार उन्होंने खूब सावधान रहने का निश्चय किया।

पर तीसरी यात्रा के समय भी नरेन्द्र कुछ बेहतर नहीं कर पाये। उस दिन श्रीरामकृष्णदेव नरेन्द्रनाथ के साथ यदुनाथ मल्लिक के पासवाले बगीचे में थोड़ी देर टहलने के उपरान्त वहाँ के बैठकखाने में आकर बैठे और थोड़ी देर में समाधिस्थ हो गये। इतने में एकदम श्रीरामकृष्णदेव ने पूर्व दिन की तरह बढ़कर उनका स्पर्श किया। नरेन्द्रनाथ पहले से सावधान रहने पर भी उस शक्तिपूर्ण स्पर्श से एकदम अभिभूत हो गये। उनका बाह्यज्ञान एकदम लुप्त हो गया। श्रीरामकृष्ण ने तब नरेन्द्र से कई प्रश्न किये—वह कौन है, कहाँ से आया है, क्यों आया है और कितने दिनों तक यहाँ पृथ्वी पर रहेगा। इस घटना के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने बाद में कहा था, "उसने भी उस अवस्था में अपने अन्तर में प्रविष्ट होकर सब प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर दिया था। उसके सम्बन्ध में पहले मैंने जो कुछ देखा और सोचा था, उसके उस दिन के

१२. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा. ३, पृ. ७५।

उत्तरों ने वही प्रमाणित कर दिया।"[१३] वे यह भी जान गये कि नरेन्द्र एक ध्यानसिद्ध महापुरुष है और जिस दिन वह जान जाएगा कि वह कौन है, उस दिन वह इस लोक में नहीं रहेगा। दृढ़ संकल्प की सहायता से समाधियोग के द्वारा वह उसी समय शरीर छोड़कर चला जाएगा। इस अपूर्व अनुभव का प्रभाव लगभग एक महीने तक नरेन्द्र के ऊपर नशा-जैसा छाया रहा।

नरेन्द्र जिस दुर्निवार आकर्षण से खिचकर ठाकुर की ओर गये, वह वस्तुतः ठाकुर का असीम प्रेम था। बाद में नरेन्द्र ने स्वीकार किया था कि श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अपने प्रेम से बाँध लिया था। दूसरों के प्रति उनके गहरे प्रेम तथा दूसरों की भलाई की उत्कट भावना के कारण उनके कार्य में विशिष्टता दिखाई देती और नरेन्द्र को तो वे मूर्तिमान् प्रेम प्रतीत होते। उनके लीलासंवरण के बाद नरेन्द्र ने लिखा था—"श्रीरामकृष्ण की बराबरी का दूसरा कोई नहीं। वैसी अपूर्व सिद्धि, वैसी अपूर्व अकारण दया, जन्म-मरण से जकड़े हुए जीव के लिए वैसी प्रगाढ़ महानुभूति इस संसार में और कहाँ?"[१४]

नरेन्द्र को देखते ही श्रीरामकृष्ण कभी कभी इतने अधिक आनन्दित हो उठते कि 'वह रहा न—' कहते हुए वे समाधिमग्न हो जाते। श्रीरामकृष्ण अपने हाथों से उसे खिलाते। श्रीरामकृष्ण प्रेमपूर्वक उसे 'शुकदेव'

१३. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा. ३, पृ. ७९।

१४. 'विवेकानन्द साहित्य', भा. १, पृ. ३६५।

कहकर पुकारते ।[१५] अपनी आध्यात्मिक सम्पदा को यथाशीघ्र अपने उत्तराधिकारी को प्रदान करने के उत्सुक श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को कई प्रकार से शिक्षा दी थी तथा उन्हें कई गहरे आध्यात्मिक अनुभव कराये थे ।

फिर भी, इन सब आश्वस्त करनेवाले अनुभवों, श्रीरामकृष्ण की दुर्बोध्य शक्ति के प्रदर्शनों तथा उनके अथाह प्रम के बावजूद उन्हें विश्वगुरु के रूप में स्वीकार करने में नरेन्द्र को पर्याप्त कठिनाई हुई । उन्होंने अपनी विचारणा शक्ति को एक पल के लिए भी नहीं छोड़ा । विवेक की कसौटी पर खरे उतरे बिना किसी बात को वे स्वीकार नहीं करते थे । ठाकुर के पूछने पर नरेन्द्र बिना झिझक कह देते, "हजारों लोग आपको अवतार के रूप में देखें, पर मैं जब तक स्वयं उस सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं हो जाऊँगा तब तक नहीं मानूँगा ।" श्रीरामकृष्ण इस बात से जरा भी नाराज न होते, क्योंकि वे जानते थे कि सत्य की अन्त में विजय होगी ही ।

एक अविश्वासी युवक के रूप में दिखलाई पड़नेवाले नरेन्द्रनाथ का श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व में प्रबल विश्वासी बन जाना तथा विश्व में अपने गुरु के प्रधान सन्देशवाहक के रूप में परिवर्तित होना उनके जीवनी-लेखकों की दृष्टि में एक ऐसी रहस्य-भरी गाथा है, जो विवेकानन्द के अन्तर्जीवन में सुरक्षित छिपी हुई है । इस बात में सन्देह नहीं कि इसमें प्रच्छण्ड आध्या-

१५. महेन्द्रनाथ दत्त : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-अनुध्यान' (बँगला), महेन्द्र पब्लिकेशन कमिटी, कलकत्ता–७००००६, प्र.सं., पृ. ८३ ।

त्मिक साधनाएँ तथा विभिन्न प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव समाहित है। इस परिवर्तन का जो फल निकला, वह विश्व के लिए एक नव आलोक या एक नये युग का स्वर्णिम विहान था। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द इन दोनों के जीवन और सन्देश परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं कि भगिनी निवेदिता ने अपनी पुस्तक 'The Master as I saw Him' में लिखा है—

"हाल ही में पुरातन पीढ़ी के एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि 'विवेकानन्द के निमाण के लिए रामकृष्ण जीवित रहे थे।' तो क्या वह सचमुच ऐसा है? अथवा क्या दैवी मातृ-हृदय के किसी प्रबल उद्‌गारविशेष में यह असम्भव-सा नहीं है कि एक भाग का दूसरे भाग से अन्तर इतनी दृढ़ता से किया जाय? इन जीवनियों का अध्ययन करते हुए बहुधा मुझे लगता है कि हमारे साथ 'रामकृष्ण-विवेकानन्द' नाम का एक जीवात्मा रहा है, और यह कि उनके अस्तित्व की खण्डच्छाया में कई आकार उभरते हैं, जिनमें कुछ आज भी हमारे साथ हैं तथा जिनमें से बहुत के सम्बन्ध में पूरी सत्यता के साथ कहा जा सकता है कि उनके सन्दर्भ में यहाँ दूसरों का क्षेत्र समाप्त होता है अथवा यह कि वहाँ उनका अपना क्षेत्र शुरू होता है।"[१६]

○

---

१६. 'The Complete Works of Sister Nivedita' (कलकत्ता : भगिनी निवेदिता गर्ल्स स्कूल, १९६७), भा. १, पृ. ६८।